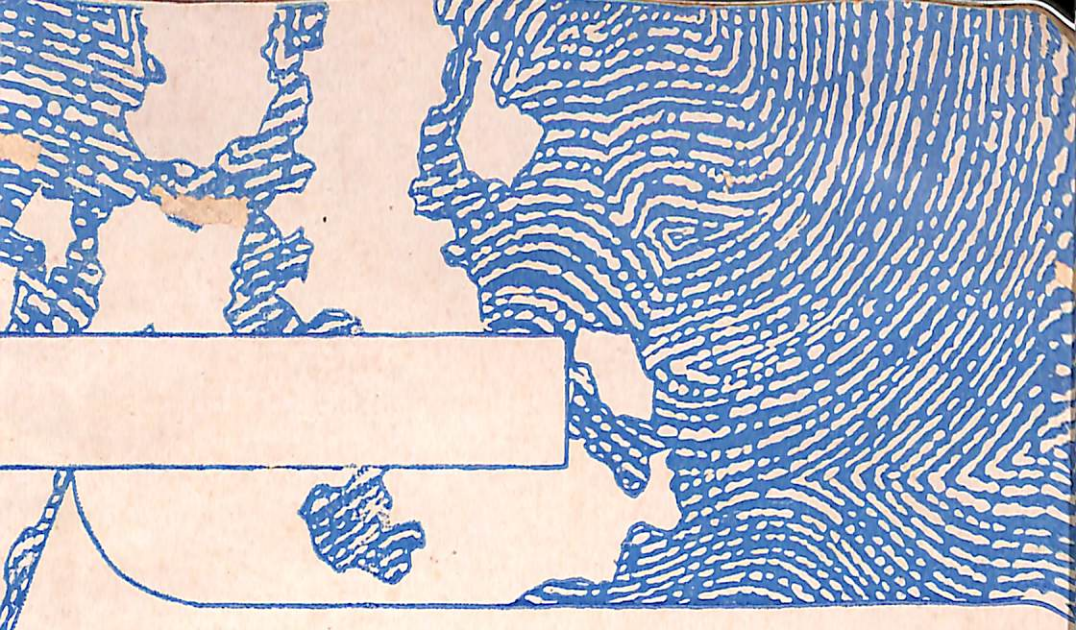

ईशावास्योपनिषद्

ईशावास्योपनिषद्

सम्पादक
डॉ० हरिनारायण यादव
एम० ए० (संस्कृत तथा हिन्दी), पी-एच० डी०
वरिष्ठ प्राध्यापक
राजा बलवन्तसिंह महाविद्यालय, आगरा

महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा-२

प्रकाशक :
महालक्ष्मी प्रकाशन
पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता
शहीद भगतसिंह मार्ग, आगरा–२८२ ००२
बिक्री केन्द्र : कंचन मार्केट (फर्स्ट फ्लोर)
हॉस्पीटल रोड, आगरा–२८२ ००३

संस्करण : १९८८-८९
मूल्य : पाँच रुपये मात्र

मुद्रक
वी० एम० आगरा

दो शब्द

'ईशावास्योपनिषद्' एक अठारह मंत्रों का लघु उपनिषद् है। अपने इस छोटे-से कलेवर में इस उपनिषद् ने विश्व को एक महान् सन्देश दिया है—निष्काम कर्म करते हुए आजीवन सत्यान्वेषण में निरत रहने का। जीवन के प्रति प्राचीन भारतीयों का दृष्टिकोण कितना आशावादी था, यह इस ग्रन्थ के अवलोकन से विदित हो जाता है। इसलिए यह ग्रन्थ वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अतीव स्पृहरणीय है और इसीलिए हमारे विद्वद्वर्ग ने इसे विभिन्न विश्वविद्यालयों के किसी-न-किसी पाठ्यक्रम में स्थान दिया है। प्रस्तुत सम्पादन कार्य में विभिन्न विश्वविद्यालयों में अध्ययनरत अल्पधी अन्तेवासियों के बौद्धिक स्तर को ध्यान में रखते हुए वे सभी उपाय किये गये हैं जिनसे यह ग्रन्थ उन्हें सुगमतया ग्राह्य हो सके। यदि हमारे विद्यार्थियों को इस कृति से उपनिषद् का मर्म समझने में कोई कठिनाई न होगी, तो यह मेरी कृतकार्यता होगी। इस सम्पादन-कार्य में मुझसे त्रुटियों और अशुद्धियाँ अवश्य हुई होंगी, जिनके निराकरणार्थ सुधीजनों के सुझाव सादर आमन्त्रित हैं।

—हरिनारायण यादव

उपनिषद् : संक्षिप्त परिचय

वेद भारत का ही नहीं, विश्व का प्राचीनतम वाङ्मय है। वेद के चार भाग हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। वेद का अन्तिम भाग होने के कारण उपनिषद् को वेदान्त भी कहते हैं। सच बात तो यह है कि उपनिषद् अथवा वेदान्त ब्रह्मविद्याविषयक चिन्तन का अक्षय भण्डार है। परम रहस्यभूत आत्म तत्त्व का बोध कराने के कारण इसे 'रहस्य' भी कहते हैं। दार्शनिक विद्वान् 'उपनिषद्' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतलाते हैं—

'उप + नि' इन दो उपसर्गों के साथ 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर 'उपनिषद्' शब्द की सिद्धि होती है। 'सद्' धातु के तीन अर्थ हैं विशरण (विनाश), अवसादन (शिथिलीकरण) और गति (ज्ञान और प्राप्ति) इन अर्थों के अनुसार—

उपनिषादयति सर्वानर्थकरसंसारं विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्।

'जो समस्त अनर्थों के कारणभूत संसार का विनाश करती, संसार की कारण-भूत 'अविद्या को शिथिल करती तथा ब्रह्म की प्राप्ति कराती है, वह उपनिषद् है।' उपनिषदों में जिस परा विद्या का आख्यान है उसे आसानी से समझा-समझाया नहीं जा सकता। कोई परम श्रद्धालु किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाकर ही कदाचित् उस ज्ञान को ग्रहण कर सकता है। अतः जगत् की नश्वरता और आत्मतत्त्व की नित्यता को भली-भाँति समझने वाले तत्त्व-वेत्ता ब्रह्मज्ञानियों की शिक्षा है कि 'कर्मतः प्राप्त हुए लोकों की परीक्षा करके (अर्थात् उनकी अनित्यता को भली-भाँति समझकर) ब्राह्मण उनसे विरक्त हो जाय; क्योंकि कृत (अनित्य कर्म) से अकृत (नित्य आत्म-तत्त्व) की प्राप्ति नहीं हो सकती। वह आत्म ज्ञान के लिए हाथ में समिधा लेकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु की ही शरण में जाय।'

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम्॥

इस ब्रह्म विद्या को श्रद्धावान् शिष्य ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप बैठकर ही सीखता था, इसलिए इसे 'उपनिषद्' ('उप' = समीप और निपूर्वकसद् = बैठना) कहते हैं; ऐसा भी कुछ विद्वानों का मत है। कुछ भी हो, यह सत्य है कि उपनिषद् वेद का अन्तिम भाग है जिसमें ब्रह्म विषयक विचार-विमर्श व्यापक रूप में हुआ है।

भारतीय विद्वानों की मान्यता है कि चारों वेदों की प्रत्येक शाखा से सम्बन्ध रखने वाली एक-एक उपनिषद् है। वेदों की कितनी शाखाएँ हैं, यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता है। महर्षि पतञ्जलि ने वेदों की ११३० शाखाओं का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है—

'एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः; एकविंशतिधा बह्वृच्यः; नवधाऽऽथर्वणो वेदः।' अर्थात् यजुर्वेद की १०० सामवेद की एक हजार, ऋग्वेद की इक्कीस और अथर्ववेद की नौ शाखाएँ हैं।' किन्तु इनमें से अधिकांश शाखाएँ अनुपलब्ध हैं इसलिए उनसे सम्बन्ध रखने वाली बहुत-सी उपनिषदें भी आज उपलब्ध नहीं हैं। अब तक शताधिक छोटी-बड़ी उपनिषदें प्रकाशित हो चुकी हैं किन्तु इनमें से जिन उपनिषदों को सभी आचार्यों ने ब्रह्म विद्या के लिए प्रमाणभूत माना है वे ये हैं—

(क) ऋग्वेद की उपनिषदें—१. ऐतरेय, २. कौषीतकि

(ख) यजुर्वेद की उपनिषदें—३ तैत्तिरीय, ४. मैत्रायणी (दोनों कृष्ण यजुर्वेद) ५. बृहदारण्यक (शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व शाखा की उपनिषद्)

(ग) सामवेद की उपनिषदें—६. छान्दोग्य तथा ७. केनोपनिषद्।

उपर्युक्त उपनिषदों को पाश्चात्य विद्वानों ने प्राचीनतम माना है। इनसे परवर्ती महत्त्वपूर्ण उपनिषदें निम्नलिखित हैं—

१. कठोपनिषद्, २. श्वेताश्वतपोपनिषद् (ये दोनों कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित है)।

३. ईशोपनिषत्—यह शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता के अन्त में है।

४. मुण्डकोपनिषद् और ५. प्रश्नोपनिषद् ६. माण्डूक्योपनिषद्। ये अथर्ववेद की उपनिषदें हैं और गद्य-पद्य मिश्रित हैं।

इनमें माण्डूक्योपनिषद् सबसे छोटी और बृहदारण्यकोपनिषद् सबसे बड़ी है। सभी उपनिषदें सरल भाषा एवं रोचक शैली में लिखी गई हैं तथा सभी के वर्ण्य-विषय प्रायः अध्यात्म तत्त्व ही हैं। बृहदारण्यक और छान्दोग्य नामक विशाल उपनिषदों में यद्यपि कुछ अन्य उपासनाओं का भी उल्लेख है, तथापि ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का बोध ही प्रधान रूप से उनका भी विषय है। सबसे अधिक रहस्यभूत आत्म-तत्त्व का बोध कराने के कारण ही उपनिषदों का स्थान सब शास्त्रों से अधिक ऊँचा है। उनमें जिस उत्कृष्ट ज्ञान का प्रतिपादन एवं विवेचन हुआ है उससे आगे एक पग भी अब तक कोई तत्त्व ज्ञानी नहीं बढ़ सका है। इस अपार ज्ञान के भण्डार ने ही प्राचीन भारत को 'जगद्गुरु' होने का गौरव प्रदान किया था और आज भी निष्पक्ष बुद्धि रखने वाले पाश्चात्य मनीषी भारतीय ज्ञान को परम श्रेष्ठ मानते हैं।

उपनिषदों की रचना कब हुई? इस सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों की मान्यताओं में गहरा मतभेद है। जहाँ भारतीय विद्वान् उपनिषदों को अनादि मानते हैं तो पाश्चात्य विद्वान् और उनके समर्थक अनेक भारतीय विद्वान्

उपनिषदों को ढाई-तीन हजार वर्ष पुरानी मानते हैं। मीमांसा आदि शास्त्रों तथा भारतीय पुराण साहित्य के अनुसार वेद अनादि है। सृष्टि के प्रारम्भ में महर्षियों के अन्तःकरण में वेद ज्यों-का-त्यों सुनायी देता है, इसलिए वेद को 'श्रुति' भी कहते हैं। शास्त्रों में ऐसा भी उल्लेख है कि प्रत्येक सत्य युग में सम्पूर्ण वेदों का आविर्भाव मोक्ष भूमि रूप भारत खण्ड में हुआ करता है और प्रत्येक कलियुग में वेदों का ह्रास होते-होते इस मृत्यु लोक से वेद ब्रह्म लोक में चले जाते हैं। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग की आयु क्रमशः १७२८००० वर्ष, १२९६००० वर्ष, ८६४००० वर्ष और ४३२००० वर्ष है। चारों युगों का एक महायुग, ७१ महायुगों का एक मन्वन्तर और २०० महायुगों का एक कल्प होता है। मन्वन्तर में खण्ड-प्रलय और कल्पान्त में महाप्रलय होती है। इस मन्वन्तर में वेद की ११८० शाखाएँ आविर्भूत हुई और इतनी ही संख्या में उपनिषदें भी प्रकट हुईं क्योंकि वे वेद के ज्ञानकाण्ड की प्रकाशक होने के कारण उससे सर्वथा अभिन्न हैं। इस मान्यता के अनुसार वेद और उपनिषद्-साहित्य की रचना आज से कई अरब वर्ष पूर्व हुई है। पाश्चात्य विद्वान् इस मान्यता से कतई सहमत नहीं हैं।

प्रो० ए० बी० कीथ का मत है कि उपनिषदों में प्राचीनतम ऐतरेयोपनिषद् है जिसका रचनाकाल ७००-६०० ई० पू० है। शेष उपनिषदें उससे परवर्ती हैं। मैक्डानल, विण्टरनित्ज आदि पाश्चात्य विद्वान् भी उपनिषदों का रचनाकाल ई० पू० ७०० से ई० पू० ३०० तक मानते हैं किन्तु उपर्युक्त दोनों मत पक्षपातपूर्ण हैं। वैदिक साहित्य विशेषतः उपनिषद् साहित्य को न तो अनादि ही कहा जा सकता है और न अत्यन्त अर्वाचीन। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से ऋक्संहिता के अनेक मण्डलों की भाषा अतीव प्राचीन है और अनेक मण्डलों की भाषा अति अर्वाचीन है। इसलिए डॉ० श्यामसुन्दर दास का मत है कि ऋग्वेद को पूर्ण होने में सौ-दो सौ वर्ष नहीं, अपितु हजारों वर्ष लगे हैं। वे ऋग्वेद के प्राचीन मण्डलों का रचना-काल आज से कम-से-कम दस हजार वर्ष पहले का मानते हैं। उपनिषदों की भाषा अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। इसलिए यह सत्य है कि उपनिषदों की रचना संहिताओं की रचना के बाद ही हुई है। कुछ भी हो, वैदिक साहित्य विशेषकर उपनिषत्साहित्य प्राचीन भारतीय मनीषा की वह अमूल्य निधि है जिसमें जीवन के शाश्वत मूल्यों पर गहराई के साथ विचार-मन्थन हुआ है।

ईशावास्योपनिषद् का प्रतिपाद्य और उसका महत्व

ईशावास्योपनिषद् शुक्लयजुर्वेद संहिता का चालीसवाँ अध्याय है। मंत्र भाग का अंश होने से इसका विशेष महत्त्व है। कुछ विद्वान् इसी को सबसे पहली उपनिषद् मानते हैं। शुक्लयजुर्वेद के प्रथम उनतालीस अध्यायों में कर्मकाण्ड का विवेचन हुआ है, जबकि अन्तिम अध्याय में ज्ञानकाण्ड प्रकाशित हुआ है।

उपनिषद् का प्रारम्भ 'ईशावास्यमिदं' इत्यादि मंत्र से होने के कारण ही इसे 'ईशावास्योपनिषद्' या केवल 'ईशोपनिषद्' कहते हैं।

यों तो सभी उपनिषदों का वर्ण्य-विषय आत्म तत्त्व है; उनमें आत्मा के ही श्रवण, मनन और निदिध्यासन पर बल दिया गया है और उनका चरम लक्ष्य है अमृतत्त्व की प्राप्ति; किन्तु ईशोपनिषद् में इस लक्ष्य प्राप्ति की प्रक्रिया कुछ भिन्न रूप से वर्णित हुई है। यह निर्विवाद है कि ईशोपनिषद् का ऋषि सत्यान्वेषण के लिए लालायित है; जैसा कि उसके पन्द्रहवें मंत्र से स्पष्ट है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

[हे पूषन्, सुवर्णमय पात्र से सत्य का मुख आच्छादित है, उसे तुम मुझ सत्य-धर्मा के दर्शनार्थ हटा दो।] किन्तु सत्य का अनुभव करने के लिए चित्त को वासना विरहित करना होगा; जैसा कि कठोपनिषद् का प्रमाण है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति। (कठ० २।३।१४)

इसका अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य निष्काम भाव से वासनाओं की तृप्ति के लिए नहीं, अपितु उनके उपशम के लिए कर्म करता रहता है तो वह मरणधर्मा होता हुआ भी अमृतत्त्व का अधिकारी हो जाता है। भारतीय दर्शन में यही स्थल कर्त्तव्यशास्त्र का उद्गम स्थल है। इस क्षेत्र में ईशावास्योपनिषद् विशेष रूप से विचारणीय है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

पहले द्वितीय मंत्र को लीजिये। इस लोक में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस प्रकार वह कर्मजन्य, सुख-दुःख, आशा-भयादि संस्कारों से लिप्त न हो सकेगा। सौ वर्ष की आयु मनुष्य की औसत आयु मानी गई है। उसे कर्म करते हुए ही पूर्ण करना चाहिए। प्रवृत्ति मार्ग से कल्याण-प्राप्ति का इससे बढ़कर सबूत और क्या हो सकता है। सच बात तो यह है कि ईशोपनिषद् शुक्लयजुर्वेद का अभिन्न अंग है और शुक्ल यजुर्वेद का दर्शन आशावादी है। उसके छत्तीसवें अध्याय में पूरे सौ वर्ष तक जीने का आनन्द लेने की प्रार्थना की गई है—

'पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्।' (३३।२४)

हम सौ वर्ष तक जीते रहे, हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ सौ वर्ष तक काम करती रहें (वैदिक वाङ्मय में चक्षु को सब ज्ञानेन्द्रियों का और वाणी को सब कर्मेन्द्रियों का उपलक्षण मानते हैं)। सौ वर्ष तक ज्ञान का संचय करते रहें (वेद को श्रुति कहते हैं इसलिए 'हम सुनते रहें' का अर्थ हमको ज्ञान की प्राप्ति होती रहे)। और हम सौ वर्ष तक अदीन रहें।' ये स्थल पाश्चात्य मनीषियों की इस मान्यता

का खण्डन करने के लिए पूर्ण सक्षम हैं कि भारतीय चिन्तन निवृत्ति मार्गी एवं निराशावादी है । जीवन के प्रति ऐसा सात्विक लगाव विश्व साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है । आजीवन कर्म करते रहो लेकिन उसमें लिप्त न हो । ईशोपनिषद् का यह मंत्र ही श्रीमद्भगवद्गीता के निष्काम कर्मयोग का बीज मंत्र है ।

अब पहले मंत्र पर आइये । यह बतलाता है कि किस प्रकार का आचरण करने से मनुष्य कर्म फल से अलिप्त रह सकता है । हमें ऐसा मानना चाहिए कि समस्त जगत् में ईश्वर भीतर और बाहर व्याप्त है । समस्त जगत् उसकी अभिव्यक्ति है । ऐसी अवस्था में एक वस्तु को पसन्द करने और दूसरी को नापसन्द करने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता । इसलिए जो कुछ यदृच्छया उपलब्ध हो जाय उसका त्याग के द्वारा असङ्ग भाव से उपभोग करना चाहिए । मंत्र के अन्त में उपदेश है कि किसी के धन के प्रति लालच मत करो । यदि ध्यान से देखा जाय तो 'कस्यस्विद्धनम्' इन्द्रियों के धन—विषय हैं; अतः हमें उनमें लिप्त न रहना चाहिए । सच पूछा जाय तो कहा जा सकता है कि उपर्युक्त दोनों मंत्र श्रीमद्भगवद्गीता के मूल हैं ।

ईशोपनिषद् की दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें आत्मा और परमात्मा की अभेदोपासना पर बल दिया गया है । इसका महावाक्य है 'सोऽहमस्मि ।' यहाँ 'सः' पद नित्यशुद्धबुद्धमुक्त सच्चिदानन्दघन परमात्मा का वाचक है तथा 'अहम्' पद जीवात्मा का । समस्त भूतों में केवल एक ही आत्म तत्त्व और आत्म तत्त्व में समस्त भूतों का अनुदर्शन करने वाला साधक राग-द्वेष, शोक-मोह आदि विकारों से मुक्त हो जाता है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ (३, ७)

"जो मनुष्य समस्त प्राणियों को आत्मा में ही देखता है और आत्मा को समस्त प्राणियों में देखता हैं तो वह किसी से घृणा नहीं करता । इस प्रकार जब आत्म तत्त्व को जानने वाले महात्मा के लिए सब आत्मा ही हो जाता है, तब फिर एकत्व का अर्थात् सबमें एक आत्मा का अनुभव करने वाले उस मनुष्य को कहाँ मोह है और कहाँ शोक है ? तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण भूतों में एक ही विज्ञानघन परब्रह्म परमात्मा का अनुभव करने वाले पुरुष में शोकमोहादि विकारों का अत्यन्ताभाव हो जाता है ।" ऐसा साधक विद्या-अविद्या और सम्भूति-असम्भूति को एक साथ जानते हुए मृत्यु को पार कर अमृत पद या परमानन्द का अधिकारी हो जाता हैं । ध्यातव्य है कि इस परम पद की प्राप्ति में अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं और यह पद अपने सत्कर्मों के बल पर परम प्रभु परमात्मा की कृपा से ही प्राप्तव्य हैं । इसलिए शास्त्र के अन्त में अग्निस्वरूप परब्रह्म से प्रार्थना की गई हैं कि वह हमारे समस्त कर्मों को

विशेष रूप से जानते हुए हमें सन्मार्ग प्रदान करें और हमारे मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करें—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

ईशावास्योपनिषद् की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसे सभी वेदान्ती प्रमाण मानते हैं और ब्रह्म विषयक चर्चा में इसके मंत्रों अथवा मंत्रांशों को यत्र-तत्र उद्धृत करते रहते हैं। सोलहवें मंत्र में उल्लिखित 'सोऽहमस्मि' को तो वेदान्त के महावाक्यों में परिगणित किया जाता है। शेष उल्लेखनीय अंश निम्नलिखित हैं—

१. **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।**
२. **अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।**
३. **तदेजति तन्नैजति .... ।**
४. **तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।**
५. **कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः ..... ।**
६. **विद्ययामृतमश्नुते ।**

ईशावास्योपनिषद्

प्रसंग मंगलाचरण रूप में परमेश्वर के विशिष्टतम नाम 'ॐ' से प्रथम मंत्र का उच्चारण करते हुए ऋषि का कथन है—

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम् ।।१।।

अन्वयः—जगत्यां यत् किं च जगत् [अस्ति तत्] सर्वम् इदम् ईशा वास्यम् [अस्ति] । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः; कस्यस्विद् धनं मा गृधः ।

शब्दार्थ - जगत्यां = संसार में । यत्किञ्च = जो कुछ । जगत् = चल या अस्थिर । सर्वम् इदम् = यह सब । ईशा = परमेश्वर से । वास्यम् = व्याप्य । तेन = तव, अतः । त्यक्तेन = त्याग से । भुञ्जीथाः = भोग कर । कस्यस्विद् = किसी के । धनम् = धन को । मा गृधः = मत चाहो ।

अनुवाद जगत् में जो कुछ चल है, वह सब परमेश्वर से व्याप्य है [अर्थात् उसमें परमेश्वर व्यापक है] । अतः [उस सबका] त्याग से भोग करो, किसी का धन मत चाहो ।

भावार्थ - संसार के सभी पदार्थ ईश्वर से व्याप्त तो हैं किन्तु जगत् किंवा चञ्चल किंवा क्षणस्थायी हैं; जैसा कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने घोषणा की है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।।गीता ९।४।।

(मुझ अव्यक्तमूर्ति से यह सारा जगत् व्याप्त है; सर्वभूत मुझमें स्थित हैं, मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ ।) अतः बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह सांसारिक पदार्थों का त्यागवृत्ति से भोग करे और किसी भी प्राणी के धन की इच्छा न करे ।

संस्कृत टीका - जगत्यां संसारेऽस्मिन् । यत्किञ्च यत्किञ्चिदित्यर्थः । जगच्चलम् अस्तीतिशेषस्तत् । सर्वमिदं जगदित्यर्थः । ईशा ईष्ट इतीट् तेनेशा । ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य तेन परमात्मना । वास्यं व्याप्यम् आच्छादनीयमित्यपि चैके । तेन तस्मात् । त्यक्तेन त्यागेन तत्सर्वम् । भुञ्जीथाः पालयेथाः । कस्यस्वित्कस्यापि धनं स्वं मा गृधः मा काङ्क्षीः धनविषयां गृधिमाकाङ्क्षां मा कार्षीदित्यर्थः ।

संस्कृत सरलार्थः - अस्मिन् विश्वे यत्किञ्चिदपि दृश्यमानं जगदस्ति प्रत्यगात्मना परमेश्वरेण व्याप्तमस्ति । अतः सांसारिकेषु पदार्थेषु त्यागवृत्तिमनुपालयन् विद्वांस्तान् पालयेत् कस्यचिदपि धनं प्रति आकांक्षां न कुर्यात् ।

व्याकरण + ईशा = ईश् + क्विप्, तृतीया विभक्ति, एकवचन । वास्यम् =

वस् + ष्यत् प्रथमा एकवचन नपुं। त्यक्तेन + त्यज् + भावे क्तः तृतीया एकवचन। भुञ्जीथाः = भुज् + लोट् आत्मने पद मध्यम पुरुष एकवचन। मा गृधः = मा (अ) गृधः 'माङि लुङ्' इस नियम से 'मा' निपात से परे लोट् को लुङ् मध्यम पु० एकवचन।

विशेष—मंत्र के आदि में प्रयुक्त प्रणव (ओंकार) मंगलार्थ है, क्योंकि 'ॐ' को वैदिक साहित्य में परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम माना गया है और विभिन्न श्रुतिवाक्यों में ओंकार मंत्र के जाप या उपासना पर विशेष बल दिया गया है। उदाहरणार्थ—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ॥छान्दोग्य उपनिषत् १।१॥
ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ॥मांडूक्य उप० १॥
सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥
कठोपनिषत् द्वितीयवल्ली मंत्रसंख्या १५॥

ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति की कामना से ही परमेश्वर के इस मुख्य नाम का मंत्र के प्रारम्भ में उच्चारण हुआ है, ऐसा समझना चाहिए।

प्रसंग—सांसारिक भोगों में निर्लिप्त रहने का अभिप्राय कर्म-त्याग नहीं है; कर्त्तव्य कर्म तो अवश्यकरणीय हैं; इसी आशय को द्वितीय मंत्र में स्पष्ट किया गया है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

अन्वयः इह कर्माणि कुर्वन्नेव शतं समाः जिजीविषेत्। एवं त्वयि [जिजीविषति] नरे इतः अन्यथा नास्ति [येन प्रकारेण अशुभं] कर्म न लिप्यते।

अनुवाद—इस संसार में कर्मों (कर्त्तव्य कर्मों) को करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिए। तुझ मनुष्य के इस प्रकार [जीने की इच्छा करने पर] इससे अन्य प्रकार नहीं है [जिस प्रकार से अशुभ] कर्म से लिप्त न होवे।

भावार्थ—मनुष्य को चाहिए कि वह अशुभ कर्मों को तो न करे किन्तु शुभ कर्मों का त्याग न करे; अपितु शुभ कर्मों को करते हुए उसे शतायु होने की कामना भी करनी चाहिए। इस प्रकार आचरण करने से ही मनुष्य अशुभ कर्मों में लिप्त होने से बचा रहेगा। तात्पर्य यह है कि यज्ञादि शुभ कर्मों के करने से ही मनुष्य लौकिक कर्मबन्धन से मुक्त रह सकता है।

संस्कृत टीका—इह अस्मिँल्लोके। कर्माणि लोकसंग्रहकारीणिशालिहोत्रादीनि। कुर्वन् विदधन्नेव। शतं शतसंख्याकाः समाः संवत्सरान् परमायुः पर्यन्तमित्यर्थः। जिजीविषेत् जीवितुमिच्छेत्। एवमनेन प्रकारेण त्वयि नरे जिजीविषति सतीति शेषः। इत एतस्मादग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वतो वर्तमानात्प्रकारादन्यथा 'प्रकारान्तरं नास्ति

येन प्रकारेणाशुभं कर्म न लिप्यते अशुभ कर्मणा न लिप्यत इत्यर्थः । अतः शास्त्रविहितानि शुभकर्माणि सम्पद्यान एव शतसंवत्सरपर्यन्तमायुर्जिजीविषेदित्याशयः ।

संस्कृत सरलार्थ – अस्मिँल्लोके लोकहितकारीणि विविधानि कर्माणि सम्पद्यमानो नरः शतवर्षपर्यन्तं जीवितुमिच्छां कुर्यात् । अनेनं प्रकारेण शुभकर्माणि कुर्वञ्छतं समा जिजीविषुर्नरोऽशुभकर्मणा न लिप्यते । अशुभकर्मबन्धनान्मुक्तेरयमेव विधिर्नान्यः ।

व्याकरण – कुर्वन् = कृ + शतृ प्रथमा एकवचन पुं । जिजीविषेत् = जीव् = सन् + लिङ् (विधि) प्रथम पुरुष एकवचन । अन्यथा = अन्य + थाल् (प्रकारवचने) लिप्यते = लिप् + लट् प्रथम पुरुष एकवचन आत्मनेपद ।

विशेष – इस मंत्र में वैदिक ऋषि ने जीवन के प्रति एक अमूल्य आशावादी सन्देश दिया है । यदि मनुष्य सर्वभूतहित की भावना से प्रेरित होकर जीवन भर कर्म करता रहे तो वह कभी दुःखी नहीं हो सकता और अपने किए हुए कर्म पर उसे सन्तोष होगा, पश्चात्ताप नहीं । इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह कर्मफल में अनासक्त भाव से लोकोपकारी कार्य करता रहे; उन कार्यों के करने से उसे पाप नहीं लगेगा । श्रीमद्भयवद्गीता का उपदेश भी यही है–

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचार ।।गीता ३।९।।

सच है, शतायु या दीर्घजीवी होने का मूलमंत्र सत्कर्म सम्पादन ही है ।

प्रसंग अशुभ कर्मों के करने वाले आत्महन्ता होते हैं । उनकी गति क्या होती है, इस बात को आगामी मंत्र में बतलाया गया है–

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति येके चात्महनो जनाः ।।३।।

अन्वयः – अन्धेन तमसावृताः ते असुर्या नाम लोकाः [सन्ति] । तान् प्रेत्य तेऽभिगच्छति ये के चात्महनो जनाः ।

शब्दार्थ अन्धेन = अदर्शनात्मक । तमसा = अज्ञानान्धकार से । आवृताः = आच्छादित । लोका लोक या जन्म । असुर्या = आसुरी । प्रेत्य = शरीर त्याग कर, मरणोपरान्त । अभिगच्छन्ति = प्राप्त होते हैं । आत्महनः = आत्मघाती; अविद्यावश आत्मा का तिरस्कार करने वाले ।

अनुवाद – अदर्शनात्मक अज्ञानान्धकार से आच्छादित वे लोक या जन्म आसुरी नाम हैं (आसुरी लोक कहलाते हैं) । उन लोकों को मरणोपरान्त वे लोग प्राप्त करते हैं जो आत्मघाती (अविद्यावश आत्मा का तिरस्कार करने वाले) होते हैं ।

भावार्थ – अविद्यावश आत्मा का तिरस्कार कर अशुभ कर्म करने वाले लोगों को शरीर त्यागकर आसुरी लोकों में जाना पड़ता है अर्थात् कीट-पतङ्गादि आसुरी (तामसी) योनियों में जन्म लेकर अपार दुःखों को सहन करना पड़ता है ।

संस्कृत टीका – अन्धेनादर्शनात्मकेन । तमसाऽज्ञानान्धकारेण । आवृता आच्छा-

दिताः । ते लोकाः लोक्यन्ते दृश्यन्ते इति कर्मफलानि जन्मानि वा । असुर्या नामासुराः सन्तीतिशेषः । तान् लोकान् । प्रेत्य त्यक्त्वेमं देहं मृत्योरनन्तरमित्यर्थः । ते जनाः । अभिगच्छन्ति यथा कर्म यथाश्रुतं प्राप्नुवन्ति । ये के चिक्च । आत्महनो आत्मानं घ्नन्ति हिंसन्ति अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनस्तिरस्करणात् । अविद्यावशात्कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेकशून्या जना आत्महन इत्युच्यन्ते ।

संस्कृत सरलार्थ – इहलोके ये जना अविद्यावशादात्मानं तिरस्कुर्वन्ति ते आत्महन उच्यन्ते । एतादृशा जना इमं शरीरं त्यक्त्वाऽऽसुरलोकान् प्राप्नुवन्ति ये अदर्शनात्मकेन अज्ञानान्धकारेण आच्छादिताः सन्ति । आत्महनो जनाः कीटपतङ्गादी आसुरी योनयोऽभिगच्छन्तीत्याशयः ।

व्याकरण—असुर्याः = असुराणामिमे इति असुर + यत् प्रथमा विभक्ति बहुवचन । तमसा = 'तमस्' शब्द के तृतीया एकवचन । आवृताः = आ + वृञ् + क्त प्रथमा बहुवचन । प्रेत्य = प्र + इण् + ल्यप् । अभिगच्छन्ति अभि + गम् + लट् प्रथम पुरुष बहुवचन । आत्महनो = आत्मानं घ्नन्तीति आत्म + हन् + क्विप् प्रथमा बहुवचन पुल्लिग ।

विशेष - 'असुर्या लोकाः' या आसुरी लोक आसुरी योनियों को ही समझना चाहिए, क्योंकि आत्मघाती या अनात्मवादी लोग अपने दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप विभिन्न आसुरी योनियों में ही भटकते हुए दुःख भोगते रहते हैं । प्रमाणस्वरूप श्रीमद्भगवद्गीता के निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥गीता १३।१९-२०॥

प्रसंग – जिस आत्मा का हनन करने से मूढ जन आसुरी योनियों में संसरण करते हैं और ज्ञानी जन जिसके तत्त्व को जानकर सांसारिकता से मुक्त हो जाते हैं, वह आत्मतत्त्व कैसा है, यह बतलाते हैं—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति । ४॥

अन्वयः - [तत्] अनेजत्, एकं, मनसो जवीयो, एनद् देवा न आप्नुवन्, [तेभ्यो मनोदेवेभ्यः] पूर्वमर्षत् । तत् तिष्ठद् अन्यान् धावतोऽत्येति, तस्मिन् मातरिश्वा अपो दधाति ।

शब्दार्थः—अनेजत् = ध्रुव, निश्चल । मनसो जवीयः = मन से अधिक गति वाला । एनद् = इसको । देवाः = द्योतनशील चक्षुरादि इन्द्रियाँ तथा विद्वान् लोग । आप्नुवन् = प्राप्त किया । पूर्वमर्षत् = पहले व्याप्त । तिष्ठत् = अचल, निष्क्रिय । धावतो = द्रुत गामियों को । अत्येति = अतिक्रमण कर जाता है । मातरिश्वा = वायु । अपः = कर्मों को, शक्तियों को । दधाति = बाँटता है ।

अनुवाद – वह एक अचल [होते हुए भी] मन से अति वेगवान् है; इसको देव (चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ किंवा विद्वान् भी] नहीं प्राप्त कर पाये; [वह तो उन मन और देवों से भी] पूर्व व्याप्त था। वह स्थिर [रहते हुए भी] अन्य द्रुतगामी [पदार्थों का] अतिक्रमण कर जाता है। उस [के संरक्षण] में आकाश में विचरने वाला वायु [सबके] कर्मों किंवा शक्तियों को बाँटता है।

भावार्थ – यद्यपि परमात्मा ध्रुव और निष्क्रिय है किन्तु सूक्ष्मत्व और सर्वव्यापित्व के कारण वह मन और इन्द्रियों से भी अधिक गतिशील है; क्योंकि मन संकल्प और इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष द्वारा जहाँ पहुँचती हैं वहाँ परमात्मा सर्वव्यापी होने से पहले ही विद्यमान होता है। इसीलिए उसको समस्त धावनशीलों से अधिक वेगवान् भी कहा गया है।

संस्कृत टीका – अनेजत् = अकम्पमानमचलं, (एजृ कम्पने, चलने वा) सर्वदैकरूपमित्यर्थः। तच्चैकमद्वितीयं ब्रह्म सर्वभूतेषु मनसो जवीयो गतिवत्तरम्। मनसि ब्रह्मलोकादीन् द्रुतं गच्छति सत्यपि तत्र तत्र आत्मचैतन्यावभासः प्रथमं प्राप्त इव गृह्यतेऽतो मनसो जवीय इत्याह। एनदेतदात्मतत्त्वं देवा द्योतनाद्वाश्चक्षुरादीनीन्द्रियाणि विद्वांसश्च नाप्नुवन् न प्राप्तवन्तः। तेभ्यो मनोदेवेभ्यः पूर्वमर्षत् पूर्वं गतं सर्वव्यापित्वात्। तत्तिष्ठत् स्वयमविक्रियमेवसद्भावतो द्रुतं गच्छतो अन्यान्मनोवागिन्द्रियप्रभृतीनात्मविलक्षणान् अत्येति अतिक्रम्य गच्छति। तस्मिन्नित्यचैतन्यस्वभावे परमतत्त्वे सति। मातरिश्वा मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत्। अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि अग्न्यादित्यपर्जन्यादीनां ज्वलनदहनप्रकाशाभिवर्षणादि लक्षणानि। दधाति विभजति।

संस्कृत सरलार्थः – तदात्मतत्त्वं कूटस्थमचलं ध्रुवं सदपि मनसो वेगवत्तरम् इन्दियाणाम् अगोचरं च विद्यते। यत्रहि मनः संकल्पादिन्द्रियाणि स्वस्वविषय प्रत्यक्षत्वाद्गच्छन्ति तत्र तत्पूर्वमेव वर्तते, तस्यहि सर्वव्यापित्वात्। अतस्तत्-सदृशं जवीयो गतिमत्तरं वा नान्यं किमप्यस्ति। तस्मिन् नित्यचैतन्यस्वभावे परमात्मनि सति वायुः सर्वभूतानां कर्माणि विभजति।

व्याकरण – अनेजत् = अन् + एजृ + शतृ प्रथमा एकवचन नपु०। जवीयः = जव + ईयसुन् प्रथमा विभक्ति एकवचन नपुं०। आप्नुवन् = स्वादिगणी। आप् धातु का लङ् प्रथम पुरुष एकवचन का रूप। अर्षत् = ऋष् + शतृ प्रथमा एकवचन नपुं। धावतः = धाव् + शतृ द्वितीया बहुवचन पुं। अत्येति = अतिपूर्वक इण् + लट् प्रथम पुरुष एकवचन परस्मैपद तिष्ठत् = स्था + शतृ प्रथमा एकवचन नपुं०। मातरिश्वा = मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा (सप्तमी अलुक् समास)। दधाति = जुहोत्यादिगणी धा + लट् प्रथम पुरुष एकवचन।

विशेष – परमात्मा को गीतादि शास्त्रों में 'अक्षरमव्यक्तं कूटस्थमचलं ध्रुवम्' (गीता १२।३) कहा गया है। वह सर्वाधार सर्वव्यापक है –

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।।गीता ९।६।।

यद्यपि उसे प्राप्त करने के लिए मन द्वारा ही मनन किया जाता है जैसा कि श्रुति वाक्य है—"मनसैवानुमन्तव्यम्" तथापि उसे मन द्वारा जाना नहीं जाता—"यन्मनसा न मनुते ।" वह अवाङ्मनसगोचर है किन्तु सर्वव्यापक है; इसलिए उसमें सर्वभूत स्थित हैं किन्तु वह उनमें स्थित नहीं है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।।गीता ९/४।।

इसीलिए वह अचल और अक्रिय होने पर भी सभी गतिमानों की अपेक्षा गतिमत्तर है ।

प्रसंग—पूर्वोक्त मंत्रार्थ का ही प्रकारान्तर से पुनराख्यान करते हुए कहा गया है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।५।।

अन्वयः—तद् एजति, तत् न एजति, तद् दूरे, तद् उ अन्तिके । तद् अस्य सर्वस्यान्तः, तद् उ अस्य सर्वस्य बाह्यतः [अस्ति] ।

शब्दार्थः—एजति = चलता है । अन्तिके = समीप, पास । अन्तः = अन्दर । बाह्यतः = बाहर ।

अनुवाद—वह चलता है, वह चलता नहीं है, वह दूर है, वह पास भी है । वह इस सब [ब्रह्माण्ड] के अन्दर है और वह इस सबके बाहर भी है ।

भावार्थ—परमात्मा सर्वव्यापक और नित्य निश्चल है किन्तु मन आदि गतिशील पदार्थों के किसी विषय में गति होने से पूर्व उसकी विद्यमानता होने के कारण वह गतिशील-सा आभासित होता है; अज्ञानियों के लिए वह कोटि-कोटि वर्षों तक दूर है जबकि तत्त्वज्ञानियों के लिए वह सदा समीप है । वह इस सम्पूर्ण चराचर जगत् में व्याप्त होता हुआ भी उससे परे है अतः वह अन्दर भी है और बाहर भी ।

संस्कृत टीका—तद् एजति चलति मनसो जवीयस्त्वाद्धावतामन्येषामत्ययनाच्च तन्नैजति सर्वव्यापित्वादचलत्वाच्च । जववतां वाङ्मनसादीनां तत्र तत्र गमनात्पूर्वमेव तत्र तत्र विद्यतेऽतस्तदचलं सदपि चलदिवाभास्यते । तद् दूरेऽविदुषामविषयः, अज्ञानिनो कोटिकोटिवर्षपर्यन्तमपि तन्न प्राप्नुवन्ति, अतएव तेभ्यस्तद् दूरमेवास्ति । तद् उ खलु अन्तिके समीपं विदुषां विषयः, 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः पुराणः सदा जनानां हृदि सन्निविष्टः' सन्नपि अज्ञानिनामप्रत्यक्षं ज्ञानिनां तु प्रत्यक्षमेव । तद् अस्य सर्वस्य चराचरप्रपञ्चस्य अन्तर्वर्त्तते 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' इत्यादिश्रुतेः । तद् उ अस्य सर्वस्य त्रिगुणात्मकस्य प्रपञ्चस्य बाह्यतो बहिरेव तस्य हि त्रैगुण्याभावात् 'स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्' इत्यादि श्रुतिवचनाच्च ।

संस्कृत सरलार्थ—सौक्ष्म्यात्सर्वव्यापकत्वाच्च तत्परमात्मतत्त्वं 'कूटस्थमचलं ध्रुवमेव,' परन्तु यत्र-यत्र मनोदेवादयो गतिमतोऽपि गन्तुं न शक्नवन्ति तत्र-तत्र तस्य पूर्वं विद्यमानत्वात्तच्चलतीव गच्छन्निव प्रतिभास्यत इत्यर्थः। सर्वभूतानां हृदयदेशे तिष्ठदपि तदज्ञानिनां दूरे ज्ञानिनामेव समीपमस्ति। कोटिकोटि जन्मानन्तरमपि मूढजनास्तन्नाप्नुवन्ति ज्ञानिनस्तु तत्त्वज्ञानानन्तरं तदधिगच्छन्ति। तत्तु निखिलब्रह्माण्डान्तर्गतं व्याप्तं सदपि तस्माद् बहिरेवयतो जगत्तु त्रिगुणात्मकं, परमतत्त्वं च निर्गुणं; अतः सर्वभूतानि तत्स्थानि सन्ति, तत्तु न तेष्ववस्थितोऽतस्तेभ्यो बहिरेव वर्तते।

व्याकरण—एजते = एजृ + लट् प्रथम पुरुष एकवचन। बाह्यतः = बहिष् + यञ् + तसिल्।

विशेष—ईश्वर सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी है, वह अपनी माया से सबको भ्रमित करता रहता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥गीता १८।६१॥

इसलिए उस परमेश्वर को माया से भ्रमित मूढजन तो कभी प्राप्त नहीं कर पाते—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥गीता ७।१५॥

अतः उनसे वह सदा दूर है; किन्तु ज्ञानवान् पुरुष माया के बन्धन को काटकर अनेक जन्मों के बाद उस परमात्मा को जान लेता है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥गीता ७।१९॥

प्रसंग—यह सब कुछ ब्रह्म ही है, ऐसी अभेद दृष्टि वाले मुमुक्षु का लक्षण आगामी मंत्र में कहते हैं—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

अन्वयः—यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येव, आत्मानं च सर्वभूतेषु अनुपश्यति ततो [सः] न विजुगुप्सते।

शब्दार्थ—सर्वाणि भूतानि = समस्त प्राणियों को। आत्मन्येव = आत्मा में ही, अपने आप में ही। आत्मानं = अपने आपको। सर्वभूतेषु = समस्त प्राणियों में। अनुपश्यति = देखता है। ततः = उससे। न विजुगुप्सते = घृणा नहीं करता है।

अनुवाद जो सब प्राणियों को आत्मा या अपने आप में और आत्मा को समस्त प्राणियों में देखता है उस [अभेद दृष्टि] से [वह किसी से] घृणा नहीं करता।

भावार्थ संसार में परस्पर घृणा और विद्वेष का कारण पार्थक्य बुद्धि है। जब मनुष्य के मन से पार्थक्य बुद्धि लुप्त हो जाती है और वह संसार के प्राणियों से अपने आपका अभेद स्थापित कर लेता है तो फिर वह किसी से घृणा नहीं करता।

संस्कृत टीका—यस्तु मुमुक्षुः। सर्वाणि भूतानि सर्वान् प्राणिनः आत्मन्येवानुपश्यत्यात्मव्यतिरिक्तानि पश्यति। आत्मानं च सर्वभूतेष्वव्यक्तादिषु स्थावरान्तेषु अनुपश्यतीति शेषः। सर्वभूतेषु अभेददृष्टिं स्थापयतीत्यर्थः। ततस्तस्मादभेददर्शनान्न विजुगुप्सते घृणां न करोति।

संस्कृत सरलार्थ—यदाहि मुमुक्षुः सर्वं भूतानि आत्मवज्जानाति, आत्मानं च सर्वभूतेषु पश्यति; तदा स सर्वत्र समदर्शनो योगी कमपि प्रति घृणाभावं न दर्शयति। पृथक्त्वे एकत्वस्थापनया न कोऽपि तस्य गर्हणीयो वर्तते।

व्याकरण—भूतानि = भू + क्त द्वितीया बहुवचन नपुं०। अनुपश्यति = अनु-पूर्वक दृश् + लट् प्रथम पुरुष एकवचन। विजुगुप्सति + विपूर्वक सन्नन्त गुप् + लट् प्रथम पुरुष एकवचन आत्मनेपद।

विशेष—उपर्युक्त मंत्र में समदर्शी ब्रह्म ज्ञानी की स्थिति स्पष्ट की है। आत्मज्ञानी मुमुक्षु में अभेद दृष्टि स्थापित हो जाती है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥गीता ६।२९॥

जब वह सर्वत्र समदर्शन हो गया, तो फिर वह घृणा किससे करे? इस प्रकार वह ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों के शब्दादि विषयों से अवस्थित राग द्वेष से रहित होकर ब्रह्म प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
ततएव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥गीता १३।३०॥

प्रसंग—पूर्वोक्त मंत्र के अर्थ को ही इस मंत्र में कहा गया है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः क. शोक एकत्वमनुपश्यत ॥७॥

अन्वयः—यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूत्, तत्र एकत्वम् अनुपश्यतः विजानतः को मोहः क. शोकः।

शब्दार्थ—यस्मिन् = जिस काल या आत्मा में। अभूत् = हो गया। तत्र = उस समय। एकत्वमनुपश्यतः = एकत्व या अभेद देखने वाले। विजानत. = विद्वान् को। को मोहः = क्या मोह अर्थात् कोई मोह नहीं। कः शोकः = क्या शोक अर्थात् कोई शोक नहीं।

अनुवाद—जिस काल या आत्मा में सब भूत आत्मा ही हो गये उस समय एकत्व या अभेद देखने वाले विद्वान् को क्या मोह और क्या शोक? अर्थात् कोई मोह नहीं और जब मोह नहीं तो शोक को स्थान कहाँ?

भावार्थ—जिस समय मुमुक्षु सर्वभूतों के पृथक्त्व को समाप्त कर उनमें एकात्मता के दर्शन करने लगता है तो वह विद्वान् या विज्ञानी हो जाता है और मायाजन्य मोह से छूटकर शोकरहित हो जाता है।

संस्कृत टीका-- यस्मिन्काले आत्मनि वा । सर्वाणि भूतानि अव्यक्तादीनि स्थावरान्तानि । परमार्थात्मदर्शनादात्मैवाभूदभवत् । तत्र तस्मिन् काले । भूतपृथग्भाव एकत्वमनुपश्यतोऽनुभवतो । विजानतः विदुषो विज्ञानिनो वा । को मोहोऽज्ञानावरणनाशान्न कोऽपि मोहः । मोहएव मूलं सर्वक्लेशानामतस्तस्य मोहस्य तिरोभावात् कः शोको न कोऽपि शोक इत्यर्थः ।

संस्कृत सरलार्थः - यदा मुमुक्षुरात्मैवेदं सर्वमित्यनुभवति, सर्वभूतेषु ऐकात्म्यं च पश्यति, तदा स विद्वान् भवति । तस्य एकत्वदर्शिनो विदुषोऽज्ञानं सर्वथा तिरोभवति, तेन च तं मोहशोकौ न व्याप्नुतः ।

व्याकरण—भूतानि = भू + क्त प्रथमा बहुवचन नपुं । अभूत् + भू + लुङ् प्रथम पुरुष एकवचन । विजानतः = विपूर्वक ज्ञा + शतृ षष्ठी एकवचन पुं । तत्र = तत् + त्रल । मोहः + मुह् + घञ् प्रथमा एकवचन पुं । शोकः शुच् + घञ् प्रथमा एकवचन पुं । एकत्वम् एक + भावार्थकत्व प्रत्यय । अनुपश्यतः = अनुपूर्वक दृश् + शतृ षष्ठी एकवचन पुं ।

विशेष—विभु आत्मा कर्तृत्व, कर्म, पाप और पुण्यादि से रहित होता है किन्तु अज्ञान के आवरण से जीवों को मोह होता है; जैसा कि गीता में उल्लेख है—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥५-१५॥

अज्ञान ही मोह का कारण है और मोह से शोक या सांसारिक क्लेशों की उत्पत्ति होती है । ज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश हो जाने पर मोहान्धकार दूर हो जाता है—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥गीता ५-१३॥

उपर्युक्त श्रुति मंत्रानुसार सर्वभूतों में एकत्व दर्शन ही ज्ञान है । ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर विद्वान् मोह शोक से रहित होकर ब्रह्म पद का अधिकारी हो जाता है जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है ,

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥गीता १३।३०॥

प्रसंग पूर्व मंत्रों में उक्त आत्मा का स्वरूप क्या है ? यह आगामी मंत्र में बतलाया गया है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

अन्वयः—स शुक्रम् अकायम् अव्रणम् अस्नाविरं शुद्धम् अपापविद्धं (ब्रह्म) पर्यगात् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः [स] अर्थान् याथातथ्यतः शाश्वतीभ्यः समाभ्यः व्यदधात् ।

शब्दार्थ – शुक्रम् = दीप्तिमान् । अकायम् = अशरीर । अव्रणम् = अक्षत । अस्नाविरम् = स्नायुओं या शिराओं से रहित । शुद्धम् = निर्मल; अविद्यामलरहित । अपापविद्धम् = धर्माधर्मादि पाप रहित । पर्यगात् = सब प्रकार से प्राप्त कर लिया । कविः = क्रान्तदर्शी, सर्वद्रष्टा । मनीषी = सर्वज्ञ । परिभूः = सर्वोपरि । स्वयम्भूः = स्वयमेव होने वाला । याथातथ्यतः = ठीक-ठीक प्रकार से, यथाभूत कर्मफल साधन से । अर्थान् = कर्त्तव्य पदार्थों को । शाश्वतीभ्यः समाभ्यः = नित्य संवत्सरों के लिए, सदा के लिए । व्यदधात् = विधान या विभाजन किया ।

अनुवाद – उसने [उस] दीप्तिमान, अशरीर, अक्षत, स्नायुरहित, निर्मल, धर्माधर्मादि पापरहित [ब्रह्म] को पूर्णतः प्राप्त कर लिया है । सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोपरि और स्वयंभू [परमात्मा] ने यथाभूत कर्मफल साधन से कर्त्तव्य पदार्थों को सदा के लिए विधान या विभाजन किया है ।

भावार्थ – मुक्तात्मा ज्योतिष्मान्, अशरीरी, छिद्र या क्षत रहित, शिराओं से रहित अर्थात् स्थूल शरीर से रहित, अविद्यामल रहित अर्थात् कारण शरीर रहित तथा धर्माधर्मादि पापरहित परब्रह्म को पहुँच गया है जिस सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता और स्वयं प्रकाश ईश्वर ने अनादि काल से सब प्राणियों के कर्मानुसार यथायोग्य समस्त पदार्थों की रचना की है ।

संस्कृत टीका – स यथोक्त एकत्वमनुपश्यन्मुक्त आत्मा । शुक्रम् ज्योतिष्मद्दीप्तिमद् । अकायमशरीरं लिङ्गशरीरवर्जितमित्यर्थः । अव्रणमक्षतम् । अस्नाविरं स्नावाः शिरा यस्मिन्न विद्यन्त इत्यस्नाविरं स्थूलशरीरवर्जितमित्यर्थः । शुद्धं निर्मलमविद्यामलरहितमिति कारणशरीरप्रतिषेधः । अपापविद्धं धर्माधर्मादिपापवर्जितं ब्रह्मेति शेषः । पर्यगात् परिसमन्तादगाद् गतवान् प्राप्तवानित्यर्थः । ब्रह्मसम्पद्यमानः स ब्रह्मैव भवति 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवतीत्यादि श्रुतेः । कविः क्रान्तदर्शी सर्वदृक् 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादिश्रुतेः । मनीषी मनस ईषिता सर्वज्ञ इत्यर्थः । परिभूः सर्वेषामुपर्युपरि भवतीति परिभूः सर्वनियामक इत्यर्थः । स्वयम्भूः स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूर्नकोऽप्यस्त्यस्य कारणम् 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् इत्यादिश्रुतेः हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' इत्यादिश्रुतेश्च । स ईश्वरः याथातथ्यतः सर्वज्ञत्वाद्यथातथाभावो याथातथ्यं तस्माद् यथाभूतकर्मफल साधनतः । अर्थान् कर्त्तव्यपदार्थान् । शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः समाभ्य; संवत्सरेभ्यः । व्यवधाद्विहितवान् यथानुरूपं व्यभजदित्यर्थः 'स दाधार पृथिवीं द्यामुते माम्' इत्यादिश्रुतेः ।

संस्कृत सरलार्थः – भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यन्नात्मा ब्रह्मैव भवति यच्च ज्योतिषामपि ज्योतिः कारणलिङ्गस्थूलशरीरेभ्यो रहितत्वादकायमक्षतमस्नाविरं निर्मलं धर्माधर्मादिपापवर्जितमस्ति । अयं परमात्मा सर्वद्रष्टा सर्वज्ञः सर्वनियन्ता स्वयम्भूश्चास्ति येनानादिकालतः सकलपदार्थानां यथाभूतकर्मफलसाधनतो विधानं कृतम ।

व्याकरण – अस्नाविरम् अविद्यमानाः स्नावा यस्मिन्नित्यस्नाविरम् ब्रह्मेत्यन्यपदप्राधान्येन बहुव्रीहिः । अ + स्नाव + इरच् प्रत्यय । शुद्धम् = शुध् + क्त प्रथमा एकवचन नपुं० । अपापविद्धम् = न पापेन विद्धम् (नञ् तत्पुरुष) विद्धम् = विध् + क्त प्रथमा एक० नपुं । कविः = कवते इति कविः = कव् + इः । मनीषी = मनस् + ईष् + णिनिः प्रथमा एक० पुं० । व्यदधात् = वि + धा + लङ् प्रथम पुरुष एकवचन । परिभूः = परिभवतीति परिभूः, परिपूर्वक भू + क्विप् । स्वयंभू = स्वयं भवतीति स्वयंभूः, स्वयं पूर्वकभू + क्विप् ।

विशेष – उपर्युक्त मंत्र से तुलनार्थ द्रष्टव्य गीता के निम्नलिखित श्लोक –

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥
प्रयाणकाले मनसा चलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥गीता ८/९, १०, ११

[जो कोई उस कवि, पुरातन, सबके नियन्ता, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सबके धारण पोषण करने वाले, अचित्यरूप, सूर्य के समान नित्य चेतन प्रकाश स्वरूप, अविद्या से अति परे परमात्मा का स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकाल में भी योग बल से भृकुटी के मध्य में प्राण को अच्छी प्रकार स्थापन करके निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्य स्वरूप परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है, जिसे वेद के जानने वाले विद्वान् अक्षर कहते हैं, जिसमें वीतराग यत्नशील महात्माजन प्रवेश करते हैं तथा जिस पद की इच्छा करने वाले ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं उस परम पद को मैं तुझसे संक्षेप में कहूँगा ।

प्रसंग – उपरि वर्णित लक्षणों से युक्त नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव आत्मा को बन्धन क्यों होता है, इस बात को स्पष्ट करते हुए ऋषि कहते हैं –

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥९॥

अन्वयः ये अविद्याम् उपासते [ते] अन्धं तमः प्रविशन्ति । ततो भूय इव तमः ते [प्रविशन्ति] ये उ विद्यायां रताः ।

शब्दार्थ – अविद्याम् = अविद्या को । उपासते = उपासना करते हैं । अन्धम् अदर्शनात्मक, गहन । तमः = अन्धकार । प्रविशन्ति = प्रवेश करते हैं । ततो = उससे । भूय इव = बढ़कर । विद्यायां = विद्या में । रताः = आसक्त ।

अनुवाद – जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं वे गहन अन्धकार में प्रवेश करते है । उनसे भी बढ़कर अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं जो विद्या में आसक्त होते हैं ।

भावार्थ – अविद्या की उपासना करने वाले तामसी योनियों में जन्म लेकर अपार कष्ट सहते हैं, किन्तु उन अज्ञानी लोगों से बढ़कर अज्ञानी और दुःखी वे लोग हैं जो अपनी विद्या (ज्ञान) पर गर्व करते हैं।

संस्कृत टीका – ये आत्महनो जनाः। अविद्यामुपासते कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकशून्यत्वादविहितानि कर्माणि कुर्वन्ति। ते अन्धमदर्शनात्मकं तम आसुरान् लोकान्। प्रविशन्ति प्रेत्याभिगच्छन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। ततस्तस्मादन्धात्मकात् तमसो। भूय इव बहुतरमेव तमः ते प्रविशन्ति, के ? ये विद्यायां त्रयीविद्यायां रता आसक्ता विद्यागर्विता वा सन्ति।

संस्कृत सरलार्थ -अविद्योपासका जना कर्मासक्त्या अदर्शनात्मकतमोरूपां आसुरीं योनिं प्राप्नुवन्ति। किन्तु ये जना विद्योपासकाः सन्तोऽपि विद्याभिमानसंयुतास्ते बहुतरमेव अदर्शनात्म तमः प्रविशन्ति। अज्ञानिभ्यः पण्डितमानिनो मूढतराः।

व्याकरण—प्रविशन्ति = प्र + विश् + लट् प्रथम पुरुष बहुवचन। उपासते = उप आस् + लट् प्रथम पुरुष बहुवचन आत्मनेपद। विद्यायाम् = विद् + यक् + टाप् + सप्तमी एकवचन। रताः = रम् + क्त प्रथमा बहु० पुं०।

विशेष – शंकराचार्य जी ने अविद्या का अर्थ कर्म और विद्या का अर्थ देवोपासना किया है। 'कर्मणा पितृलोकः' (कर्म से पितृ लोक की प्राप्ति होती है) और 'विद्यया देवलोकः' (विद्या से देव लोक की प्राप्ति होती है) इत्यादि श्रुति वचनों से भी अपने गन्तव्य की सार्थकता सिद्ध की है। वस्तुतः कर्म में रत रहने वाले व्यक्ति मूढ और अज्ञानी ही होते हैं, किन्तु जो 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' आदि श्रुति वाक्यों का पालन करते हुए त्रयीविद्या में अनुरक्त स्वर्गादि भोगों की कामना करते हैं वे इन कर्मरत अज्ञानियों से भी मूढतर हैं, क्योंकि अज्ञानीजन तो आसुरी योनि को प्राप्त होकर जन्म-जन्मान्तर में ब्रह्म प्राप्ति से वञ्चित रहकर अधमगति को प्राप्त होते हैं; जैसा कि गीता का वचन है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥गीता १६/२०॥

किन्तु त्रयी विद्योपासक यज्ञादि सत्कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति लेकर अनेक दिव्य भोगों का आस्वादन करते हैं किन्तु जब तक उनके सत्कर्मों का प्रभाव रहता है तभी तक वे स्वर्ग में रहते हैं, पुण्यक्षय होने पर वे पुनः जन्म मरण के प्रपञ्च में पड़ जाते हैं—

त्रैविद्यां मां सोमपाः पूत पापा, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्, अश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना, गतागतं कामकामा लभन्ते ॥गीता ९/२०-२१

प्रसंग – यद्यपि विद्योपासक और अविद्योपासक दोनों ही अदर्शनात्मक तम

में प्रवेश करते हैं, तथापि उनके फल भिन्न-भिन्न हैं, इस बात को आगामी मंत्र में कहा गया है –

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।।१०।।

अन्वयः – विद्यया [फलम्] अन्यदेवाहुः, अविद्यया [फलं] अन्यद् आहुः । इति [वयं] धीराणां [वचनं] शुश्रुम ये नः तद् विचचक्षिरे ।

शब्दार्थ – अन्यद् = दूसरा । आहुः = कहते हैं, कहा गया है । विद्यया = विद्या (देव ज्ञान) से । अविद्यया = अविद्या (कर्मोपासना) से । धीराणाम् = बुद्धिमानों का । नः = हमको विचचक्षिरे = व्याख्या की है ।

अनुवाद – ब्रह्म ज्ञान रूपा विद्या का फल और ही कहा गया है और कर्मरूपा अविद्या का फल दूसरा कहा गया है । ऐसा हमने बुद्धिमानों का वचन सुना है जिन्होंने उसकी हमारे लिए व्याख्या की है ।

भावार्थ – बुद्धिमान लोगों को परम्परा से हमने यह कहते हुए सुना है कि विद्या और अविद्या से किये गये कर्मों के फल पृथक्-पृथक् होते हैं। एक-दूसरे से भिन्न होते हैं ।

संस्कृत टीका – विद्यया देवविद्यया ब्रह्मविद्यया वा फलम् । अन्यदेव स्वर्ग-प्राप्त्यादि आहुरुच्यते, 'विद्यया देवलोकः इति 'विद्यया तदारोहन्ति' इति च श्रुतेः । अविद्यया कर्मोपासनया फलम् । अन्यत्तद्विभन्नमाहुः 'अविद्यया पितृलोक' इत्यादिश्रुतेः । इत्येवं वयं धीराणां धीमतां वचनं शुश्रुम श्रुतवन्तः । ये विदुषः । नोऽस्मभ्यः । तद् विद्याविद्याफलम् । विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तस्तेषामयमागमः पारम्पर्यागत इत्यर्थः ।

संस्कृत सरलार्थः – ये विद्वांसो विद्याविद्याविषयकं व्याख्यानं कृतवन्तस्तेषांमभिमतं यद् विद्ययाऽविद्या च यदुपलभ्यते तत्सर्वथा भिन्नं भिन्नं वर्त्तते; तयोरुभयोः फलं भिन्न भिन्नमस्तीत्यर्थः ।

व्याकरण – आहुः = वद् धातु का लिट् प्रथम पुरुष एकवचन का प्रयोग जिसका अर्थ वर्तमान कालिक होता है—'कहते हैं' । विद्यया = विद् + यक् + टाप् (स्त्रियां) तृतीया एकवचन शुश्रुम = श्रु + लिट् उत्तम पुरुष बहुवचन । विचचक्षिरे = विपूर्वक चक्ष् + लिट् प्रथम पुरुष बहुवचन आत्मने पद ।

प्रसंग – जो व्यक्ति विद्या और अविद्या दोनों की साथ-साथ उपासना करता है, उसे क्या फल मिलता है, इस प्रश्न का समाधान निम्नलिखित मंत्र में किया गया है –

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।११।।

अन्वयः – यः विद्यां च अविद्यां च तदुभयं सह वेद, [सः] अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते ।

शब्दार्थ – विद्याम् अध्यात्म ज्ञान को। अविद्यां = कर्मोपासना को। तदुभयम् = उन दोनों को। सह = एक साथ। वेद = जानता है। मृत्युं तीर्त्वा = मृत्यु को पार कर; मरण दुःख से मुक्त होकर। अमृतमश्नुते = अमृत को भोगता है, अमरत्व प्राप्त करता है।

अनुवाद – जो व्यक्ति विद्या (अध्यात्म ज्ञान) और अविद्या (कर्मोपासना) इन दोनों को एक साथ जानता है, [वह] अविद्या द्वारा मृत्यु को पार कर (मृत्यु-दुःख से मुक्त होकर) विद्या द्वारा अमृत को भोगता है अर्थात् अमरत्व प्राप्त कर लेता है।

संस्कृत टीका – यो मुमुक्षुः। विद्यामत्याध्यज्ञानं च। अविद्यां कर्मोपासनां च। तदुभयं विद्याविद्ये। सह युगपदेकेन पुरुषेणानुष्ठेयं। वेद जानाति। सः अविद्यया निष्कामकर्मणा। मृत्युं तीर्त्वा मरणदुःखादुन्मुच्य। विद्यया ब्रह्मज्ञानेन। अमृतमश्नुते-ऽमरत्वमाप्नोति अपुनरावृत्तिनाम परमानन्दमास्वदत इत्यर्थः।

संस्कृत सरलार्थः विद्याविद्ये एकेनैव पुरुषेण युगपदनुष्ठेये। यः कोऽपि मुमुक्षुरेवमनु तिष्ठति स निष्काम कर्मरूपयाऽविद्यया मरणदुःखात् सर्वथा विमुक्तो भूत्वा विद्याद्वारा अपुनरावृत्त्याख्यमरत्वं परमं पदं वा प्राप्नोति।

व्याकरण - विद्यां = विद् + यक् + टाप् (स्त्रियां) द्वितीया एकवचन। वेद = विद् + लिट् प्रथम पुरुष एकवचन। मृत्युं = मृ + युप् द्वितीया एकवचन पुं। तीर्त्वा = तॄ + क्त्वा। अमृतम् = अ + मृ + क्त द्वितीया एकवचन नपुं०। अश्नुते = अश् + लट् प्रथम पुरुष एक०।

विशेष कर्म अविद्याजन्य होता है। किन्तु जैसे लोक में काँटे से ही पैर में चुभा हुआ काँटा निकाला जाता है, वैसे ही कर्म द्वारा सांसारिक क्लेशों से छुटकारा पाया जाता है। इसके लिए कर्मों में निष्कामता पहली शर्त है। निष्कामता तभी सम्भव है जब कर्मों को ईश्वरार्पण कर उसी के ध्यान में मन लगा दिया जाय। भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है कि जो लोग सब कर्मों को मुझमें अर्पित कर मत्परायण होते हुए अनन्य भाव से ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनको मैं शीघ्र ही मृत्यु संसार के सागर से पार कर देता हूँ –

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।गीता १२/६-७॥

विद्या से तात्पर्य ब्रह्म विद्या ही है, क्योंकि उसी के द्वारा अमरत्व प्राप्ति होती है। प्रमाणस्वरूप गीता का निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है –

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥गीता १३/१२॥

[मैं उस ज्ञेय को कहूँगा जिसे जानकर अमृत भोगता है; वह ब्रह्म अनादि

और अनिर्वचनीय है।] इसीलिए मैंने 'अमृत' पद का अर्थ अपुनरावृति नामक अमरत्व किंवापरमपद किया है। ब्रह्म विद्या द्वारा ज्ञानी पुरुष परमात्मा को सर्वत्र समभाव से देखता हुआ अपने द्वारा आत्मा का विनाश न करता हुआ परम पद को प्राप्त हो जाता है—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥गीता १३/२८॥

तात्पर्य यह है कि कर्म और ज्ञान के समन्वय से ही परम पद प्राप्य है।

प्रसंग—अब व्यक्ताव्यक्त प्रकृति की उपासना करने वालों की निन्दा करते हुए ऋषि का कथन है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥१२॥

अन्वय—ये असम्भूतिम् उपासते [ते] अन्धं तमः प्रविशन्ति। ये उ सम्भूत्यां रताः, ते ततः भूय इव तमः [प्रविशन्ति]।

शब्दार्थ—असम्भूतिम् = अव्यक्त प्रकृति को। उपासते = उपासना करते हैं। अन्धम् = अदर्शनात्मक। तमः = अज्ञानान्धकार। प्रविशन्ति = प्रवेश करते हैं। सम्भूत्यां = व्यक्त प्रकृति में। रताः = आसक्त। ततः = उससे। भूय इव = अधिकतर, गहनतर।

अनुवाद—जो लोग अव्यक्त प्रकृति की उपासना करते हैं वे अदर्शनात्मक अज्ञानान्धकार में प्रवेश करते हैं [किन्तु] जो व्यक्त प्रकृति में आसक्त हैं वे उससे भी गहनतर अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

भावार्थ—लौकिक भोगों की अभिलाषा से कुछ लोग अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति हेतु अव्यक्त प्रकृति की उपासना करते है; ऐसे लोग कोटि-कोटि जन्मों तक तामसी (आसुरी) योनियों में भटकते रहते हैं और जो लोग सांसारिक पुत्रवित्तादि स्थूल पदार्थों को ही सत्य मानकर उनमें अनुरक्त रहते हैं, उनकी गति अव्यक्तोपासकों की गति से भी बदतर होती है।

संस्कृत टीका—येऽनीश्वरवादिनः। असम्भूतिमुपासते अविद्यमाना सम्भूतिः संभवः यस्यास्तां प्रधानमव्यक्तप्रकृतिमुपासते। अव्यक्तप्रकृतिरेव प्रधानं कारणमस्य जगतः 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपा' मित्यादिश्रुतेः, ईश्वरस्य कारणत्वासिद्धेर्न स उपास्य इति ये जनाः प्रकृतिमेवोपासते नेश्वरम्। तेऽन्धमदर्शनात्मकं गहनं तमोऽज्ञानान्धकारं प्रविशन्ति कोटि-कोटि जन्म पर्यन्तं तामसीं योनि माप्नुवन्तीत्यर्थः। ततस्तस्मादपि। भूय इव बहुतरमेव गहनतरं तमस्ते प्रविशन्ति। ये 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यादि श्रुतिवचनानां तात्पर्यार्थमजानतः। सम्भूत्यां संभवे व्यक्ते पुत्रवित्तादिव्यक्तपदार्थेषु रता आसक्ताः।

संस्कृत सरलार्थः—संसारेऽस्मिन्नैकेऽनीश्वरवादिनो जनाः। तेषामेके मूल-

प्रकृतिमस्य जगतः कारणं मत्वा तामेवोपासते । ते परम पदानधिकारिणः सन्तः कोटि कोटि युगपर्यन्तं प्रकृतिलयाख्यमदर्शनात्मकं तमः प्रविशन्ति । एकेऽनीश्वरवादिनो मूलप्रकृतेः कार्यरूपमिदं सर्वं भौतिकं जगदेव सत्यं मन्यमानास्तस्मिन्नेवानुरक्ताः । ते प्रकृत्युपासकापेक्षया गहनतरां दुर्गतिं प्राप्नुवन्ति ।

व्याकरण – असम्भूतिम् = अविद्यमाना सम्भूतिर्यस्यास्ताम् (अव्यक्त प्रकृतिम्) इति बहुव्रीहिः; अ + सम् + भू + क्तिन् द्वितीयैकवचनम् । उपासते = उप + आस + लट् प्रथम पुरुष बहुवचन आत्मने पद । प्रविशन्ति = प्र + विश् + लट् प्रथम पुरुष बहुवचन परस्मैपद । रताः = रम् + क्त प्रथमा विभक्ति बहुवचन पुल्लिग ।

विशेष – सांख्य और वेदान्त दर्शनों में संसार का उपादान कारण प्रकृति या माया को माना गया है । दोनों दार्शनिक विचारधाराओं में अन्तर यह है कि सांख्य दर्शन में प्रकृति विश्व का उपादान कारण है और प्रकृति पुरुष संयोग निमित्त कारण; जबकि वेदान्त के अनुसार माया संसार का उपादान कारण है और ब्रह्म निमित्त कारण । इस प्रकार सांख्याचार्य सृष्टि प्रक्रिया में ईश्वर की आवश्यकता अनुभव नहीं करते और वे प्रकृति को प्रधान मानते हैं । सांख्य दर्शन का 'ईश्वरासिद्धेः' सूत्र इसी आशय को स्पष्ट करता है । एक बात दोनों में समान है और वह यह कि दोनों ही दर्शन प्रकृति और माया को त्रिगुणात्मक मानते हैं । जैसे सांख्य दर्शन में प्रकृति का लक्षण—'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' तो पञ्चदशीकार द्वारा माया का लक्षण –

अव्यक्त नाम्नीपरमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणगत्मिका या ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ।

इस प्रकार कुछ लोग भ्रमवश प्रकृति या माया को ही सृष्टि का मूल-तत्त्व मानकर उसी की उपासना करने लगते हैं । इससे उन्हें अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है किन्तु सांसारिक बन्धन से मुक्ति नहीं प्राप्त हो पाती । सत्त्वादि गुणों के प्रभाव से मनुष्य देव, पितर, भूत-प्रेतादि की उपासना भी करते हैं –

यजन्ते सात्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणाश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।।गीता १७/४।।

ऐसे लोगों को परम पद की प्राप्ति नहीं हो सकती, अपितु देव योनियों में ही उन्हें जन्मना पड़ता है –

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।।गीता ९/२५।।

तात्पर्य यह कि प्रकृति उपासकों को कैवल्य परम पद कदापि नहीं मिलता और जो लोग सांसारिक भोगों में ही लीन हैं उनकी दुर्दशा का तो कहना ही क्या । जो अनेक चित्तत्ता के कारण भ्रमित और मोह जाल से समावृत हैं, वे सांसारिक भोगों में आसक्त रहने से अपवित्र नरक में गिरते हैं –

अनेक चित्तविभ्रान्ता मोहजाल समावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।।गीता १६/१६।।

प्रसंग - प्रस्तुत मंत्र में दोनों उपासनाओं के अलग-अलग फल का निर्देश करते हुए कहा गया है --

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।।१३।।

अन्वयः सम्भवात् [फलं] अन्यदेव आहुः, असम्भवात् [फलं च] अन्यद् आहुः । इति धीराणां [वचनं] शुश्रुम ये नः तद् विचचक्षिरे ।

शब्दार्थ — सम्भवात् = सम्भूति या व्यक्त प्रकृति [की उपासना] से । अन्यदेव और ही पृथक् ही । आहुः = कहते हैं । असम्भवात् = असम्भूति या अव्यक्त प्रकृति [की उपासना] से । धीराणाम् = बुद्धिमानों के । शुश्रुम = हमने सुना है । नः = हमारे लिए । विचचक्षिरे = व्याख्या की है ।

अनुवाद — सम्भूति या व्यक्त प्रकृति की उपासना से पृथक् फल बतलाते हैं और असम्भूति या अव्यक्त प्रकृति की उपासना का फल भिन्न कहा गया है । ऐसा हमने उन बुद्धिमानों से सुना है जिन्होंने हमारे लिए उसकी व्याख्या की है ।

भावार्थ सम्भूति या व्यक्त प्रकृति की उपासना से अणिमादि ऐश्वर्य नामक फल की प्राप्ति होती है जिससे योगी कामरूपता प्राप्त कर सांसारिक भोगों का विविध प्रकार से आस्वादन करता है; और अन्ततः वह उन्हीं में लीन रहता हुआ सांसारिक जन्म-मरण के प्रपंच में पड़ा रहता है । असम्भूति या अव्यक्त प्रकृति की उपासना का फल तो पूर्व मंत्र में 'अन्धन्तमः प्रविशन्ति' या प्रकृति लय बतलाया ही गया है । ये वचन हमने उन विद्वानों से सुने हैं जिन्होंने हमारे लिए उनकी व्याख्या की थी ।

संस्कृत टीका — सम्भवात्सम्भूत्या व्यक्तप्रकृतेरुपासनायाः फलम् । अन्यत्पृथगेवाहुरणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः । असम्भवादसम्भूतेरव्यक्तायाः प्रकृतिरुपासनात्फलं चान्यदाहुः पृथगुच्यते । यदुक्तमन्धन्तमः प्रविशन्तीति प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यते । इत्येवं वयं धीराणां धीमतां वचनम् । शुश्रुम श्रुतवन्तः । ये धीरा नोऽस्मभ्यः । तद्विचचक्षिरे.व्यक्ताव्यक्तोपासनफलं व्याख्यातवन्तः ।

संस्कृत सरलार्थः - ये विद्वांसो व्यक्ताव्यक्तोपासनफलं व्याख्यातवन्तस्तेषामभिमतं यद् व्यक्तप्रकृतेरुपासनायाः फलमणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं पृथगेव, अव्यक्तप्रकृतेरुपासनायाश्च प्रकृतिलयाख्यं फलं पृथगेवास्ति तयोरुपासनायाः फलं भिन्नं भिन्नं इत्यर्थः ।

व्याकरण — सम्भवात् = सम् + भू + अच् पञ्चमी विभक्ति एकवचन । शुश्रुम = श्रु + लिट् उत्तम पुरुष बहुवचन । विचचक्षिरे वि + चक्ष् + लिट् प्रथम पुरुष । बहुवचन ।

विशेष - सम्भूत्युपासक अणिमादि सिद्धियों द्वारा सांसारिक भोगों में आनन्द

लेते हैं; किन्तु काम-क्रोध के वशीभूत होकर वे बड़े-से-बड़ा अनिष्ट कार्य करने से नहीं चुकते; जैसे गीता में उनकी मनोदशा का बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१६/१३-१४ ॥

ऐसे लोगों को सांसारिक आवागमनरूप फल की प्राप्ति होती है और जो लोग अव्यक्तोपासक हैं उनको प्रकृति लय रूप फल की प्राप्ति होती है, मोक्ष की नहीं।

प्रसंग—सम्भूति और असम्भूति की युगपद् उपासना का फल कहते हैं—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥१४ ।

अन्वयः—यः तद् उभयं, सम्भूतिं च विनाशं च, सह वेद । विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या अमृतम् अश्नुते ।

शब्दार्थ—उभयम् = दोनों । सम्भूतिम् = सम्भूति को, (प्रस्तुत प्रसंग में सम्भूति के कारण असम्भूति या अव्यक्त प्रकृति को । विनाशम् = विनाशधर्मी सम्भूति को । सह = एक साथ । वेद = जानता है । तीर्त्वा = पारकर । अमृतम् = अमरता । अश्नुते = प्राप्त करता है ।

अनुवाद जो सम्भूति या व्यक्त प्रकृति [के कारण असम्भूति या अव्यक्त प्रकृति] तथा विनाशधर्मी सम्भूति इन दोनों को एक साथ जानता है, वह विनाशधर्मी सम्भूति से मृत्यु को पारकर सम्भूति कारण असम्भूति से अमरत्व प्राप्त करता है ।

भावार्थ—असम्भूति का परिणाम सम्भूति और सम्भूति का परिणाम विनाश होने से यहाँ परिणामी के स्थान पर परिणामवाचक शब्दों का प्रयोग किया गया है। अतः सम्भूति से असम्भूति और 'विनाश' से सम्भूति अर्थ ही ग्राह्य है, जो मुमुक्षु इन सम्भूति और असम्भूति को एक साथ जानता है, वह आणिमादि ऐश्वर्य लक्षणा सम्भूति से मृत्यु को पार कर प्रकृति लय नामक फल प्रदान करने वाली असम्भूति से अमरत्व प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह कि सम्भूति (स्थूल जगत्) और असम्भूति (अव्यक्त प्रकृति) में अभेद-स्थापन द्वारा ही मुमुक्षु को इन दोनों से परे परम पुरुष परमात्मा का बोध होने पर परम गति प्राप्त हो सकती है।

संस्कृत टीका—यो मुमुक्षुः । तदुभयमुभे ते सम्भूतिं कार्यकारणाभेदत्वेनात्रा सम्भूतिमव्यक्तां प्रकृतिम् विनाशं च विनाशो धर्मोयस्यास्तां विनाशधर्मिणीं सम्भूतिं च । अत्र धर्मधिर्मिणोरभेदत्वं स्थापितम् । सह युगपदेकेन पुरुषेणानुष्ठेयं । वेद जानाति सः । विनाशेन विनाशधर्मिण्याऽणिमाद्यैश्वर्यलक्षणया सम्भूत्या । मृत्युं तीर्त्वा अनैश्वर्यादि मृत्युमतीत्य । सम्भूत्या अत्र तत्कारणभूतया संभूत्या अव्यक्तोपासनया । अमृतमश्नुतेऽमरत्वमाप्नोति । अव्यक्ताव्यक्तप्रकृत्योरभेदस्थापनेन मुमुक्षुरुभयोर्भिन्नमुक्त-ममव्यक्तमक्षरं पुरुषं शरणं प्रपन्नः सन् परमां गतिं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

संस्कृत सरलार्थ – यो मुमुक्षु. सम्भूत्यसम्भूत्योरभेदं पश्यति स तयोर्भिन्नं परमं पुरुषमपि जानाति । अतः स अणिमाद्यैश्वर्यलक्षणया सम्भूत्याऽनैश्वर्यादि मृत्युमतीत्य असम्भूत्या प्रकृतिलयस्तदनन्तरं ब्रह्मावबोधे सति परमं पदमाप्नोति ।

व्याकरण – सम्भूतिम् = सम् + भू + क्तिन् द्वितीया विभक्ति एकवचन । विनाशम् = वि + णश् घञ् द्वितीया विभक्ति एकवचन । वेद = विद् + लिट् प्रथम पुरुष एकवचन । मृत्युँन् = मृ + युप् द्वितीया एकवचन पुं० । तीर्त्वा + तॄ + क्त्वा । अमृतम् = अ + मृ + क्त द्वितीया एकवचन नपुं० । अश्नुते = अश् + लट् प्रथम पुरुष एकवचन । आत्मने पद ।

विशेष सम्भूति और असम्भूति में कार्य कारण सम्बन्ध है; अतः वे परस्पर भिन्न होते हुए भी तत्त्वतः अभिन्न हैं । असम्भूति को शंकराचार्य जी ने कारण ब्रह्म भी कहा है और गीता में इसे 'महद्ब्रह्म' कहा गया हैं जिससे समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है –

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।१४/३।।

दूसरे शब्दों में यही मूल प्रकृति है जो परमपिता परमात्मा की अध्यक्षता में चराचर जगत् की उत्पत्ति करती है –

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।।९/१०।।

गीता के १५वें अध्याय में सम्भूति और असम्भूति को क्रमशः क्षर और अक्षर पुरुष कहा गया है और उनसे परे उत्तम पुरुष परमात्मा को माना गया है –

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।१५/१६-१९ ।।

सम्भूति और असम्भूति में अभेद स्थापन से ही उत्तम पुरुष का बोध होने पर उस परम पद की प्राप्ति हो जाती है जिसे अव्यक्त अक्षर, परम गति आदि नामों से अभिहित किया जाता है और जिसे प्राप्त करने पर पुनरावर्तन नहीं होता –

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।गीता ८/२१।।

प्रसंग – परमेश्वर की उपासना करने वालों को परमेश्वर की ही प्राप्ति होती है, यह कहा गया है । अतः भगवद्भक्त को अन्त काल में परमेश्वर से उनकी प्राप्ति हेतु किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिए, इस जिज्ञासा पर कहते हैं –

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।१५।।

अन्वयः – पूषन्, सत्यस्य मुखं हिरण्मयेन पात्रेण अपिहितम्; सत्यधर्माय दृष्टये तत् त्वम् अपावृणु ।

शब्दार्थ पूषन् = विश्व का भरण-पोषण करने वाले भगवन् । सत्यस्य = सत्य का । मुखम् = मुख । हिरण्मयेन = सूर्य की किरणों से ज्योतिर्मय । पात्रेण = पात्र से । अपिहितम् = ढका हुआ है । सत्यधर्माय = सत्य धर्म का अनुष्ठान करने वाले, सत्यान्वेषण करने वाले मुझको । दृष्टये = दर्शन कराने के लिए । तत् = उस आवरण को । त्वम् = आप । अपावृणु = हटा दीजिए ।

अनुवाद – हे विश्व का भरण-पोषण करने वाले भगवन्, सत्य का मुख (द्वार) सूर्य की किरणों से ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है । सत्य धर्म का अनुष्ठान करने वाले या सत्यान्वेषण करने वाले मुझको अपने दर्शन कराने के लिए उस आवरण को आप हटा दीजिए ।

भावार्थ – ब्रह्म लोक को सत्यलोक तथा आदित्यलोक भी कहा जाता है । इसलिए उस सत्यस्वरूप परमात्मा का मुख सूर्य की सुनहरी किरणों से ढका हुआ है । इसी को हिरण्मय पात्र कहा गया है । सत्यान्वेषी भक्त प्रार्थना करता हुआ कहता है कि विश्व के पोषणकर्त्ता परमेश्वर, आप इस पात्र को हटाकर अपने सत्यस्वरूप का मुझे दर्शन करावें ।

संस्कृत टीका – हे पूषन् जगतः पोषयितः । सत्यस्य यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुष एतदुभयं सत्यम् तस्यैवादित्य-मण्डलस्थस्य ब्रह्मणः । मुखं द्वारम् । हिरण्मयेन हिरण्मयमिव हिरण्मयं ज्योतिर्मय-मित्येतत्तेन ज्योतिष्मता पात्रेणेव अपिधानभूतेन । अपिहितमाच्छादितम् । सत्यधर्माय सत्योपासनात्सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा सत्यधर्मो वा तस्मै सत्यान्वेषिणे मह्यम् । दृष्टये तव सत्यात्मनो दर्शनायोपलब्धये वा । तदावरण त्वमपावृण्वपसारय दूरीकुर्वित्यर्थः ।

संस्कृत सरलार्थः – अमृतत्वं याचितुकामो वैदिकर्षिः परमेश्वरं प्रार्थयते यद् हे भुवनस्य पोषणकर्त्तः, वयं त्वां सत्यस्वरूपमादिपुरुषं दिदृक्षामहे । तत्सत्यस्य द्वारं चादित्यमण्डलस्य रश्मीनां ज्योतिष्मता पात्रेण आच्छादितमिवाभाति । सूर्यमण्डले यः पुरुषः श्रुतिभिर्वर्णितः स तेनापिधानभूतेन पात्रेण आच्छादितं सन्मया द्रष्टुं न शक्यते । अतः कृपया तदावरणं अपसार्य येनाहं सत्यान्वेषी त्वां सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मोपलभे ।

व्याकरण – पूषन् = पुष् + शतृ सम्बोधन एकवचन । सत्यस्य = सन्तीति सन्तः, तेषु सत्सु साधु तत्सत्यम् तस्य (ब्रह्मणः) बहुव्रीहिः; सत् + यत् षष्ठी एकवचन । हिरण्मयेन = हिरण्यं सूर्यादीनां ज्योतिस्तेजो वा तेन युक्तं हिरण्मयं तेन; हिरण्य + मयट् तृतीया एकवचन । अपिहितम् = अपि + धा + क्त प्रथमा एकवचन नपुं० । अपावृणु = अप + आङ् + वृङ् + लोट् मध्यम पुरुष एकवचन परस्मै पद । सत्यधर्माय = सत्यं धर्मो यस्य स सत्यधर्मा सत्यधर्मो वा तस्मै मह्यमिति बहुव्रीहिः । दृष्टये = दृश् + क्तिन् चतुर्थी एकवचन ।

विशेष – मुण्डकोपनिषद् के द्वितीय मुण्डक में 'हिरण्मय पर कोश' में विरज,

निष्कल शुभ्र और ज्योतियों के भी ज्योति: स्वरूप ब्रह्म का निवास है जो स्वयं प्रकाश है और उसके प्रकाश से ही सब प्रकाशित हैं –

हिरण्मयेपरे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥९॥
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१०॥

तैत्तिरीयोपनिषद् में 'भूर्भुवः सुवः' इन तीन लोकों से परे जो 'महः' लोक है उसे आदित्य लोक तथा ब्रह्म लोक का पर्याय भी बतलाया गया है –

भूरितिवाऽयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम् । सुवरित्यसौ लोकः । मह इत्यादित्यः आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते । ··· भूरिति वा ऋचः । भुव इति सामानि । सुवरिति यजूँषि । मह इति ब्रह्म । ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते ।तैत्ति० पंचम अनु०।

तैत्तिरीयोपनिषत् की भृगुवल्ली में एक स्थान पर उल्लेख है कि इस पुरुष (मनुष्य) में जो आत्मा है वह आदित्य में भी है; दोनों का अन्तर्यामी एक ही है –

'यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः ।' श्रीमद्भगवद्गीता में भी परमेश्वर को 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' (८/९) कहा गया है । इसी परम पुरुष को ईशोपनिषत् में 'सत्य' कहा गया है जो स्वयं प्रकाश होने से चकाचौंध कर देता है अतः सत्यधर्मा साधक चाहता हुआ उसका साक्षात्कार नहीं कर पाता । यह चकाचौंध तभी दूर हो सकती है जब परमेश्वर की कृपा हो जाये । भागवत पुराण में ईश्वर की कृपा (अनुग्रह) को पोषण कहा गया है – 'पोषणं तदनुग्रहः' । सत्य स्वरूप ब्रह्म को आच्छादित करने वाला माया का झिलमिलाता आवरण तभी दूर हो सकता है जबकि ईश्वर की कृपा (पोषण) हो जाय । इसलिए ईश्वर के लिए 'पूषन्' सम्बोधन सर्वथा उचित है । 'हिरण्मय पात्र' माया के आवरण का प्रतीक है ।

प्रसंग—हिरण्मय पात्र के आवरण का अपाकरण होने पर ही ब्रह्म ज्ञान हो जाता है; ऐसा इस मंत्र में कहते हैं –

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्तेपश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि । १६॥

अन्वयः – पूषन्, एकर्षे, यम, सूर्य, प्राजापत्य, रश्मीन् व्यूह, तेजः समूह, यत् ते कल्याणतमं रूपम्, तत् ते पश्यामि; यः असौ असौ पुरुषः; अहम् सः अस्मि ।

शब्दार्थः – पूषन् = हे विश्व का पोषण करने वाले । एकर्षे = एक ही गमन करने वाले अथवा मुख्य ज्ञानस्वरूप । यम = हे सबके नियन्ता । सूर्य = हे सूरियों (ज्ञानियों) के परम लक्ष्य रूप। प्राजापत्य = हे प्रजापति के प्रिय । रश्मीन् = इन रश्मियों को । व्यूह = हटा लीजिए । तेजः = इस तेज को । समूह = समेट लीजिए या अपने तेज में मिला लीजिए । यत् = जो । ते = आपका । कल्याणतमम् = अतिशय-कल्याणमय । रूपम् = रूप है । तत् = उस । ते = आपके [रूप को] । पश्यामि = मैं

देखता हूँ । यः = जो । असौ वह (सूर्य का आत्मा है) । असौ = वह । पुरुषः = परम पुरुष (आपका ही स्वरूप) है । अहम् = मैं [भी] । सः अस्मि = वही हूँ ।

अनुवाद – हे विश्व का पोषण करने वाले एक ही गमन करने वाले अथवा मुख्य ज्ञानस्वरूप, हे सबके नियन्ता, हे सूरियों (ज्ञानियों) के परम लक्ष्य रूप; हे प्रजापति के प्रिय, आप इन रश्मियों को हटा लीजिए, इस तेज को समेटकर अपने में मिला लीजिए । जो आपका अतिशय कल्याणमय रूप है, उस आपके रूप को मैं देखता हूँ । जो वह [सूर्य का आत्मा] है वह परम पुरुष (आपका ही स्वरूप) है; मैं भी वही हूँ ।

भावार्थ विश्व के पोषक, नियामक, ज्ञानियों के वरेण्य तथा सर्वव्यापक परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करता हुआ भक्त कहता है कि प्रभो! आप इन अज्ञानमयी किरणों को दूर कर उस तेज को अपने आप में मिला लीजिए जिससे मैं आपके परम कल्याणमय रूप को देख सकूँ । रश्मि और तेज से रहित हो जाने पर ही सूर्य स्थित पुरुष दर्शनीय है और वह पुरुष परम पुरुष परमात्मा का ही स्वरूप है और मेरे हृद्देश में भी वही परमात्मा स्थित है । इस प्रकार एक ही देव समस्त भूतों में व्याप्त है, यह अनुभव हो जाता है ।

संस्कृत टीका—हे पूषन् जगतः पोषणकर्तः । एकएव ऋषति गच्छति इत्येकर्षिः 'तदेजति' इति श्रुति वचनात्तस्य हि सर्वव्यापकत्वादेकर्षित्वम् हे सर्वव्यापिन्नित्यर्थः । तथा सर्वस्य संयमनाद्यमः—हे यम विश्वनियामक । रश्मीन् प्राणान् रसांश्च स्वीकरोति स सूर्यः अथवा सूरीणां ज्ञानियां वरेण्यः स सूर्यः—हे सूर्य । प्रजानां जनानां । 'प्रजास्यात्सन्ततौ जन' इत्यमरः । पतिरधीश्वरो ब्रह्मा 'वेधाप्रजापति र्ब्रह्मे त्यमरः । तस्यापत्यं पुमान् प्राजापत्यः । दित्यदित्यादित्यपत्युत्तर पदाण्ण्यः' णित्त्वाच्चादेरचो वृद्धिः । हे प्रजापतिपुत्र सूर्य सूर्यस्थित परम पुरुष । स्वान् रश्मीन् अपाकुरु । ते तेजस्तापकं ज्योतिः । समूह एकीकुरु उपसंहर । यत्ते तव कल्याणतमम् अत्यन्तशोभनं रूपम् । तत्ते तवात्मनः प्रसादात् पश्यामि । अनुभवामि च यद् योऽसावादित्य मण्डलस्थः पुरुषः । असौ स पुरुषः पुरुषाकारत्वात् पूर्णः पुरि शयनाद्वा पुरुषो ब्रह्मे त्यर्थः । अहमपि स एवास्मि ।आत्मस्थसूर्यस्थयोः पुरुषयोर्मध्येऽभेदत्वमनुभवामीत्यर्थः ।

संस्कृत सरलार्थः – 'पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्येत्येतैर्नामभिः सम्बोधयन् भक्तः परमात्मानं प्रार्थयते यत् हे परम पुरुष । त्वं स्वकं तापकं रूपं संहृत्य परमकल्याणं स्वरूपं दर्शय येन मम भेदबुद्धिर्नश्येत् । भेदबुद्धिनाशे सत्यस्योद्घाटनं भवति यत् सूर्यमण्डलस्थो यः पुरुषः स परमात्मैवास्ति; ममान्तर्वर्ती च यः पुरुषः सोऽपि परमात्मैव । सर्वत्र एक एव देवः सच्चिदानन्द रूपेण विद्यते नेह नानास्ति किञ्चन ।

व्याकरण—एकर्षे = एक एव ऋषति गच्छतीति एकर्षिः (सूर्यः, ब्रह्म वा), स सम्बुद्धौ बहुव्रीहिः । यम = यम् + अप् । प्राजापत्य = प्रजा + पति + अपत्य । प्र + जन् + ड + टाप् + पा + ऽति = प्रजापति, प्रजापतेरपत्यं पुमान् इतिण्मः । प्रजापति + ण्य = प्राजापत्य । व्यूह = वि + वह् + लोट् मध्यम पुरुष एकवचन । समूह = सम् + -

वह् + लोट् मध्यम पुरुष एकवचन । कल्याणतमं = कल्याण + तमप् । पश्यामि = दृश् + लट् प्रथम पुरुष एकवचन ।

विशेष—इस मंत्र में रश्मियाँ माया के आवरण तथा तेज मायाजन्य दुःख के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं । ईश्वर की कृपा से जब मायाजन्य दुःखों का क्षय हो जाता है तो जीव अपने सत् स्वरूप को जान लेता है और परमात्मा के सच्चिदानन्द रूप का साक्षात्कार कर स्वयं भी आनन्दमय हो जाता है जैसा कि श्रुति प्रमाण है—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' तथा 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।' परमात्मा से आत्मा का तादात्म्य स्थापित हो जाता है और उसे सर्वत्र एक ही परमात्मा की सत्ता का भान होने लगता है । यही मनुष्य का परमार्थ है, चरम लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति हेतु ऋषि ने ईश्वर से प्रार्थना की है ।

२. 'सोऽहमस्मि'—यह वेदान्त का महावाक्य माना जाता है जिसके द्वारा 'सः' पद विशिष्ट चैतन्य अर्थात् ब्रह्म और 'अहम्' पद विशिष्ट चैतन्य अर्थात् जीव में अभेद स्थापित किया गया है ।

प्रसंग—ध्यान के द्वारा भगवान् के दिव्य मंगलमय स्वरूप के दर्शन करता हुआ साधक अब सूक्ष्म और स्थूल शरीरों के बन्धनों से मुक्त होकर भगवच्छरण में जाने की प्रार्थना करता हुआ कहता है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतंस्मर क्रतो स्मर कृतंस्मर ॥१७॥

अन्वयः—अथ वायुः अमृतम् अनिलम् [प्रविशतु], इदं शरीरं भस्मान्तं [भूयात्] । ॐ क्रतो, स्मर, कृतं स्मर । क्रतो ! स्मर, कृतं स्मर ।

शब्दार्थ—अथ = अब । वायुः = प्राण । अमृतम् = अविनाशी । अनिलम् = वायु तत्त्व में । [प्रविशतु = प्रवेश करे] । इदम् = यह । शरीरम् = स्थूल शरीर । भस्मान्तम् = अग्नि में जलकर भस्म रूप । [भूयात् = हो जाय] । ॐ = हे सच्चिदानन्दघन परमात्मन् । क्रतो - यज्ञ पुरुष । स्मर = [आप मुझ भक्त को] स्मरण करें । कृतम् = मेरे कर्मों को । स्मर = स्मरण करें । क्रतो = हे यज्ञ पुरुष परमात्मन् । स्मर = [आप मुझ भक्त को] स्मरण करें । कृतम् = मेरे कर्मों को । स्मर = स्मरण करें ।

अनुवाद—अब यह प्राण अविनाशी वायु-तत्त्व में प्रवेश करे; और यह स्थूल शरीर अग्नि में जलकर भस्म हो जाय । हे सच्चिदानन्दघन यज्ञ पुरुष परमात्मन् । आप मुझ भक्त को स्मरण करें; मेरे कर्मों को स्मरण करें । हे यज्ञ पुरुष परमेश्वर ! आप मुझ भक्त को स्मरण करें; मेरे कर्मों को स्मरण करें ।

संस्कृत टीका—अथेदानीं मम मरिष्यतो वायुः प्राणाख्यो व्यष्टि वायुः । अमृतमविनाशिनम् । अनिलं समष्टि वायु तत्त्वं प्रविशत्विति वाक्यशेषः । इदं स्थूलं शरीरं-मग्नौ हुतं भस्मान्तं भस्मरूपं भूयात् । ओमिति यथोपासनम् । हे उपास्य सच्चिदानन्द घन । हे क्रतो यज्ञपुरुष भगवन् । मां भक्तं स्मर । कृतं स्मर यन्मम स्मर्त्तव्यं तस्य-

कालोऽयं प्रत्युपस्थितोऽतः स्मर मां च मम कृतं च । क्रतो स्मर कृतं स्मरेति पुनर्वचनमादरार्थम् ।

संस्कृत सरलार्थ – सोऽहमस्मीति सच्चिदानन्दघनं परमात्मानं साक्षात्कृत् साधकोऽभिलषति यदिदानीं मम मरिष्यतः प्राणा इन्द्रियाणि च अविनाशिनं समष्टिवायुतत्त्वं प्रविशन्तु प्राणेन्द्रियैर्निर्मितं लिङ्गशरीरं च विनाशं प्राप्नुयात्; इदं स्थूलशरीरं चाग्नौ हुतं सद्भस्मीभूतं भूयात् । लिङ्ग स्थूल बन्धन मुक्तेरनन्तरं हे उपास्य यज्ञमय परमात्मन् ! त्वं मां मुमुक्षुं मम कृतं कर्म च स्मर येनाहं तव कृपापात्रः सद्गतिं प्राप्नुयाम् । हे यज्ञ पुरुष पौनः पुन्येन मम इयमेव प्रार्थनाऽस्ति यत्त्वं मां स्मर मम कृतं च स्मर ।

व्याकरण वायुः = वातीति वायुः = वा + उण् प्रथमा विभक्ति एकवचन । अमृतम् = नमृतम् इति नञ् (अ) + मृ + क्त द्वितीया विभक्ति एकवचन । शरीरम् = शीर्यते इति शरीरम् = शृ + ईरच् प्रथमा विभक्ति एकवचन । स्मर = स्मृ + लोट् मध्यम पुरुष एकवचन । कृतम् = कृ + क्त द्वितीया विभक्ति एकवचन ।

विशेष – (१) शंकराचार्य जी ने 'ॐ क्रतोस्मर कृतं' स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर का अर्थ इस प्रकार किया है – 'ओमिति यथोपासनम् । ॐ प्रतीकात्मकत्वात्सत्यात्मकमग्न्याख्यं ब्रह्माभेदेनोच्यते हे क्रतो सङ्कल्पात्मक स्मर यन्मम स्मर्त्तव्यं तस्य कालोऽयं प्रत्युपस्थितोऽतः स्मर।' अर्थात् 'ॐ' के द्वारा यहाँ उपासना के अनुसार सत्यात्मक अग्निनामक ब्रह्म ही अभेद रूप से कहा गया है; क्योंकि उसका प्रतीक है । हे क्रतो— संकल्पात्मक मन ! तू इस समय जो मेरा स्मरणीय है, उसका स्मरण कर; अब यह उसका समय उपस्थित हो गया है, अतः तू स्मरण कर ।'

(२) शास्त्रों के अनुसार प्रयाण काल में 'ॐ' का उच्चारण करता हुआ और ईश्वर का स्मरण करता हुआ प्राणी परम गति को प्राप्त होता है

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ।।गीता ८/१३।।

प्रसंग – ब्रह्म ज्ञानी का मोक्ष हो जाता है और वह अपुनरावर्ती उत्तरायण मार्ग से प्रयाण करता है जिसका अभिमानी देवता अग्नि हैं; अतः परम धाम में जाते समय उस मार्ग के अभिमानी देवता से प्रार्थना करता हुआ साधक कहता है –

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ।।१८।।

अन्वयः – अग्ने, अस्मान् राये सुपथा नय; (हे) देव, विश्वानि वयुनानि विद्वान् [असि] । अस्मत् जुहुराणम् एनः युयोधि; [वयं] ते भूयिष्ठां नम उक्तिं विधेम ।

शब्दार्थ – अग्ने = हे उत्तरायण मार्ग के अभिमानी देवता अग्नि । अस्मान् = हमें । राये = परम धाम रूपी धन के लिए (परमात्मा तक पहुँचाने के लिए) । सुपथा सुन्दर [उत्तरायण] मार्ग से । नय = ले चल । देव = हे देव । विश्वानि = [तुम हमारे]

सम्पूर्ण । वयुनानि = कर्मों को । विद्वान् - जानने वाले हो । अस्मत् = हमारे । जुहुराणम् = इस मार्ग के प्रतिबन्धक । एनः = [यदि कोई] पाप हैं । युयोधि = [तो उन सबको] दूर कर दीजिए । ते = तुमको । भूयिष्ठाम् = आदरपूर्वक बार-बार । नम उक्तिम् = नमस्कार के वचन । विधेम = हम कहते हैं ।

अनुवाद—हे अग्नि देवता, तुम हमें परम धामरूपी धन की प्राप्ति के लिए सुन्दर [उत्तरायण] मार्ग से ले चलो । हे देव, [तुम हमारे] सम्पूर्ण कर्मों को जानने वाले हो । [अतः] हमारे [इस मार्ग के] प्रतिबन्धक [यदि कोई] पाप हैं तो उन सबको दूर कर दीजिए । हम तुमको आदरपूर्वक बार-बार नमस्कार के वचन कहते हैं ।

संस्कृत टीका - हे अग्ने ! हे उत्तरायण मार्गाधिष्ठातृ देव ! अस्मान् यथोक्त धर्मफलविशिष्टान् साधकान् । राये धनाय परमधामरूप परमधनायेत्यर्थः । सुपथा शोभनेन उत्तरायणेन मार्गेण सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्ग निवृत्त्यर्थम् । निर्विण्णोऽहं दक्षिनेन मार्गेण गतागतलक्षणेनातो याचे त्वां पुनः पुनर्गमनागमन वर्जितेन शोभनेन उत्तरेण पथा नय गमय । हे देव ! त्वमस्माकं विश्वानि सर्वाणि । वयुनानि कर्माणि प्रज्ञानानि वा । विद्वाञ्जानन् जानासीत्यर्थः । अतोऽस्मज्जुहुराणम् अस्माकं मार्गस्यास्य कञ्चिदपि प्रतिबन्धकम् । एनः पापम् । युयोधि वियोजय विनाशयास्मत्तः । ततो वयं पापनाशेन विशुद्धाः सन्तः इष्टं प्राप्स्याम इत्यभिप्रायः । किन्तु वयमिदानीं ते परिचर्यां कर्त्तुं तु न शक्नुमः । भूयिष्ठां बहुतरां । ते तुभ्यम् । नम उक्तिं नमस्कारवचनम् । विधेम नमस्कारेण परिचरेम इत्यर्थः ।

संस्कृत सरलार्थ—हे अग्ने, वयं यथोक्त धर्मफल विशिष्टा जना अपुनरावर्त्तिनमुत्तरायणं याचामहे, अतस्त्वमस्मान् परमपदरूप धनस्य प्राप्त्यर्थं निर्वेदकारिणो दक्षिणमार्गान्निवृत्त्य शोभनेन उत्तरमार्गेण गमय । हे देव, त्वमस्माकं सकलानि कर्माणि प्रज्ञानानि वा विजानासि; अतोऽस्मान् अस्य मार्गस्य प्रतिबन्धकात्पापान्निवारय येन विशुद्धाः सन्तो वयं स्वाभीष्टं प्राप्तुं शक्नुयाम । किन्तु अस्त्येष नः प्रयाणकालः स्थूलसूक्ष्मशरीराभ्यां मुक्तत्वाच्च वयम् इदानीं तव कामपि परिचर्यां कर्त्तुं न शक्नुमः; अतस्तुभ्यं वारं वारं नमस्कारवचनं समर्पयामहे ।

व्याकरण – नय = नी + लोट् मध्यम पुरुष एकवचन । सुपथा = शोभनश्चासौ पन्थाश्च तेन सुपथा (कर्मधारय) । राये ऐकारान्त पुल्लिग 'रै' शब्द का चतुर्थी एकवचन । देव = दिव् + घञ् सम्बोधन । विद्वान् = विद् + वसु पुं० एकवचन प्रथमा । युयोधि = जुहोत्यादिगणी युध् + लोट् मध्यम पुरुष एकवचन । एनः = सकारान्त नपुं० एनस् का द्वितीया विभक्ति एकवचन । भूयिष्ठाम् = बहु + इष्ठन् + टाप् द्वितीया एकवचन । नम उक्तिम् = नमः इति उक्तिस्ताम् । नमः = नम् + अप् । उक्तिम् = वच् + क्तिन् द्वितीया एकवचन । विधेम = वि + धा + लिङ् उत्तमपुरुष बहुवचन ।

विशेष – इस उपनिषद् के परवर्ती दोनों मंत्र मुमूर्षु जनों के लिए अन्तकाल में स्मरणीय हैं क्योंकि भगवान् ने गीता में कहा है कि मनुष्य जिस-जिस भाव को स्मरण

करता हुआ शरीर त्याग करता है वह सदा उसी भाव से भावित होता हुआ उसी को प्राप्त होता है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तंतमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः ।।गीता ८/६।।

और अन्तकाल में जो केवल भगवान् का ही स्मरण करते हुए शरीर त्याग करते हैं उन्हें परम पद की प्राप्ति होती है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।।गीता ८/५।।

इसलिए मुमुक्षु मुमूर्षु को चाहिए कि अन्तकाल में ईशोपनिषद् के अन्तिम दोनों मंत्रों द्वारा भगवत्स्मरण करता रहे ।

शान्ति पाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ॐ शान्ति. ॐ शान्ति. ॐ शान्तिः

अर्थ वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म सब ओर से पूर्ण है और यह जगत भी [उस परब्रह्म से] पूर्ण ही है; क्योंकि यह पूर्ण [जगत्] उस पूर्ण (परब्रह्म परमात्मा) से ही उत्पन्न हुआ है । उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल लेने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है ।

हे सच्चिदानन्दघन हमारे त्रिविध ताप की शान्ति हो ।